MAPH-107

शंकराचार्य का दर्शन

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

खण्ड – 1

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में तर्क की भूमिका

इकाई – 1 3–12

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म सत् की अवधारणा

इकाई – 2 13–22

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में जगत का मिथ्यात्व

इकाई – 3 23–32

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में अनुभव, तर्क एवं श्रुति का स्थान

इकाई – 4 33–44

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में अपरोक्षानुभूति

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

एम.ए.पी.एच.–107 (MAPH-107)

सरं क्षक मार्गदर्शक

प्रो.के.एन. सिंह – कुलपति, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

विशेषज्ञ समिति

डॉ.आर.पी.एस. यादव	–	निदेशक, मानविकी विद्याशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
प्रो. रामलाल सिंह (से.नि.)	–	दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
प्रो.दीप नारायण यादव	–	दर्शनशास्त्र विभाग, पं0 दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
प्रो. द्वारिका	–	विभागाध्यक्ष, पं0 दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
प्रो. सभाजीत यादव	–	दर्शनशास्त्र विभाग, महात्मागांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

लेखक

डॉ. श्यामकान्त	–	असिस्टेंट प्रोफेसर, आर्यकन्या डिग्री कालेज, इला0 वि.वि. प्रयागराज।
डॉ. अतुल कुमार मिश्र	–	शैक्षिक परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

सम्पादक

प्रो. जटाशंकर	–	पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

परिमापक

प्रो. आर.पी.एस. यादव	–	निदेशक मानविकी विद्याशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

समन्वयक

डॉ. अतुल कुमार मिश्र	–	शैक्षिक परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

2023 (मुद्रित)

© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–211021

ISBN-

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को राजर्षि अण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठय सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन – उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज– 211021

प्रकाशक – कुलसचिव, विनय कुमार, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज –2023

मुद्रक – के0 सी0 प्रिटिंग एण्ड एलाइड वर्क्स , पंचवटी, मथुरा – 281003.

इकाई–1

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म सत् की अवधारणा

संरचना

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म विचार

1.3 ब्रह्म का तटस्थ एवं स्वरूप लक्षण

- **1.3.1** ब्रह्म का तटस्थ लक्षण
- **1.3.2** ब्रह्म का स्वरूप लक्षण
- **1.3.3** शंकराचार्य के द्वारा लौकिक दृष्टान्त के द्वारा ब्रह्म के तटस्थ लक्षण और स्वरूप लक्षण का भेद
- **1.3.4** शंकराचार्य द्वारा ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप और औपाधिक स्वरूपक के स्पष्टीकरण हेतु जादूगर का दृष्टान्त

1.4 शंकराचार्य के अद्वैत–वेदान्त में ब्रह्म के दो रूप–निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म

1.5 अद्वैत वेदान्त का ब्रह्म सभी प्रकार के भेदों से रहित है

1.6 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म अनिर्वचनीय सत्ता है

1.7 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म और ईश्वर

1.8 शंकराचार्य के अनुसार ईश्वर की सिद्धि श्रुतिवाक्यों से होती है, अनुमान या तर्क से नहीं

1.9 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में आत्मा और ब्रह्म

1.10 शंकराचार्य के अनुसरर जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध

1.11 शंकराचार्य एवं रामानुज के ब्रह्म विचार में भेद

1.12 निष्कर्ष

1.0 उद्देश्य

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को ही एकमात्र निरपेक्ष सत् के रूप में स्वीकार किया गया है। शंकराचार्य ने ब्रह्म की अवधारणा से सम्बन्धित इस सिद्धांत को उपनिषदों से ग्रहण करके उसे अद्वैतवाद के अनुरूप तार्किक ढंग से विकसित किया है। यही कारण है कि उनके अद्वैतवाद की तत्वमीमांसा में ब्रह्म ही एकमात्र ही सत् है, जगत–मिथ्या है और परमार्थतः ब्रह्म ही है, ब्रह्म से भिन्न नहीं है।

1.1 प्रस्तावना

शंकराचार्य की ब्रह्म सम्बन्धित अवधारणा उपनिषदों में सन्निहित ब्रह्म का ही व्यवस्थित निरूपण है। शंकराचार्य ने उपनिषदों ब्रह्मात्मेंक्यभाव को ही अपने अद्वैतवाद में विकसित किया है। उन्होंने ने अपने अद्वैतवाद के द्वारा परमार्थतः ब्रह्म के ही एकमात्र निरपेक्ष सत् होने का प्रतिपादन करते हैं, क्योंकि ब्रह्म ही एक ऐसी सत्ता है, जो त्रिकालबाधित है। शंकराचार्य ने एकमात्र ब्रह्म को ही सत् मानने के लिए उपनिषदों के अनेक उद्धरणों को प्रस्तुत किया है। उन्होंने छान्दोग्य उपनिषद् के 'एकमेंवाद्वितीयम्' तथा सर्वं खल्विदंब्रह्म का उल्लेख करते हुए यह स्पष्ट किया है कि शुद्ध सत्ता, जो समस्त संसार का मूल कारण है, नाना रूपों में अभिव्यक्त होने पर भी स्वयं निराकार है। भिन्न–भिन्न रूपों में होने पर भी यथार्थतः निरवयव है। शान्त विषयों में भासमान होने पर भी वस्तुतः अनन्त है। शंकर इस अनन्त, निर्विशेष सत्ता को ही संसार का मूलतत्व कहा है और इसे ही ब्रह्म की संज्ञा से अभिहित करते हैं। उनके अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र तत्व है, जिसका चैतन्य गुण नहीं, अपितु स्वभाव है। यही कारण है कि ब्रह्म को विशुद्ध चैतन्य कहा जाता है। इसीलिए ब्रह्म शब्द की व्याख्या करते हुए यह कहा जाता है कि 'वृहत्तमत्वात्– ब्रह्म' या 'वृहणात्– ब्रह्म' अर्थात् जो वृहत्तम है, वही ब्रह्म है।

1.2 शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म विचार

शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म का विचार दो दृष्टियों से किया जा सकता है। व्यावहारिक दृष्टि से जगत को सत्य माना जाता है और ब्रह्म को इसका मूलकारण, सृष्टिकर्त्ता, पालक, संहारक, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान कह सकते हैं। इसी रूप में उसे ईश्वर या सगुण ब्रह्म कहा जाता है। ईश्वर या सगुण ब्रह्म ही हमारी उपासना का भी विषय हो सकता है। परन्तु ब्रह्म को जगत्कर्ता कहना केवल व्यावहारिक दृष्टि से ही सत्य माना जा सकता है, अर्थात् जब तक हम जगत् को सत्य मानते हैं। जगत् कर्त्तृत्व ब्रह्म का स्वरूप लक्षण नहीं है, केवल ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है, अर्थात् सृष्टि का कर्त्ता होना ब्रह्म का केवल औपाधिक गुण है, वास्तविक स्वरूप नहीं। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म के दो लक्षण प्राप्त होते हैं। तटस्थ लक्षण और स्वरूप लक्षण। किसी वस्तु का आन्तरिक स्वरूप न होते हुए भी अन्य वस्तुओं से उसका भेद करने वाला (व्यवच्छेदक) लक्षण तटस्थ लक्षण कहलाता है– 'स्वरूपान्तराभूत्वेसति इतरव्यावर्तकं तटस्थ–लक्षणम्'। पुनः 'स्वरूपान्तराभूत्वे सति इतरव्यावर्तकं स्वरूपलक्षणम्' अर्थात् किसी वस्तु को आन्तरिक स्वरूप, जो उसे अन्य वस्तुओं से पृथक् करता है, स्वरूप लक्षण है। अतएव यह कहा जा सकता है कि तटस्थ लक्षण किसी वस्तु का आगन्तुक गुण है, इसके विपरीत, स्वरूप लक्षण उसका अनिवार्य गुण है।

1.3 ब्रह्म का तटस्थ एवं स्वरूप लक्षण

1.3.1 ब्रह्म का तटस्थ लक्षण

अद्वैत वेदान्त में 'सृष्टि–कर्त्तृत्व' ब्रह्म का तटस्थ लक्षण माना जाता है। शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र के द्वितीय सूत्र 'जन्माद्यस्य यतः' की व्याख्या में इसी तथ्य को उद्‌घाटित किया है। उनका कथन है कि इस जगत् का जन्मादि (जन्म, धारण और विनाश) जिस तत्व से होता है, वह ब्रह्म है। उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि

श्रुतियाँ भी ब्रह्म को जगत का मूल कारण बताती हैं। उन्होंने श्रुतिवाक्यों की व्याख्या करते हुए यह विचार व्यक्त किया है कि –यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, यो जातानि जीवन्ति, यत् प्रत्यन्त्याभिसंविशन्ति .... तद्विजिज्ञास्व तद् ब्रह्म' अर्थात् जिससे इस जगत् के समस्त पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जिसमें स्थित एवं जीवित रहते हैं और जिसमें अन्ततः विलीन हो जाते हैं उस ब्रह्म की जिज्ञासा करो, वह ब्रह्म है। शंकराचार्य ने श्रुतियों से अपने अभीष्ट मत की पुष्टि करने के बाद तर्क द्वारा भी उसे पुष्ट करने का प्रयास किया है। वे ब्रह्मसूत्रभाष्य में अपने मत का पोषण करते हुए अन्य सृष्टिविषयक विद्धान्तों जैसे, सांख्य दर्शन के 'प्रकृति–परिणामवाद', न्याय–वैशेषिक दर्शन के 'परमाणुवाद' और अद्वैतेतर वेदान्तियों के ब्रह्म परिणामवाद को तार्किक दृष्टि से असंगत सिद्ध करते हैं और ब्रह्म को ही एकमात्र जगत् का मूल कारण सिद्ध करते हैं। उनके अनुसार ब्रह्म ही इस जगत् का उपादान कारण और निमित्तकारण दोनों है। उनके अनुसार जगत्– ब्रह्म का परिणाम नहीं है, अपितु ब्रह्म का विवर्त है। जगत्– ब्रह्म की प्रतीतिमात्र है, विकार या तात्विक परिवर्तन नहीं, क्योंकि ब्रह्म कूटस्थ एवं नित्य है। अतएव उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन संभव नहीं हैं माया या अविद्या के कारण ब्रह्म ईश्वर या जीव के रूप में जगत् में प्रतीति होता है। इस प्रकार माया से युक्त ब्रह्म ही जगत् का मूल कारण है। उन्होंने विवर्तवाद का समर्थन करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि जगत् की वास्तविक उत्पत्ति नहीं होती, केवल उसकी उत्पत्ति का आभास होता है। इसलिए ब्रह्म के सृष्टिकर्त्तृत्व को केवल व्यावहारिक दृष्टि से सत्य कहा जा सकता है, पारमार्थिक दृष्टि से न कोई सृष्टि है और न ही कोई सृष्टिकर्त्ता। इस प्रकार जगत्कारणत्व या जगत् का कारण होना ब्रह्म का औपाधिक गुण है, वास्तविक स्वरूप नहीं। यह ब्रह्म का ऐसा लक्षण है जो उसके स्वरूप को प्रकट नहीं करता। वास्तविकता यह है कि जगत्कारणता ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है। इसीलिए श्रुतियों में यह कहा गया है कि 'सर्व खल्विदं ब्रह्म'।

1.3.2 ब्रह्म का स्वरूप लक्षण

शंकराचार्य ब्रह्म का स्वरूप लक्षण को व्यक्त करते हुए उसे 'सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म', 'विज्ञानानन्दं ब्रह्म' एवं 'सच्चिदानन्द' कहते हैं। उनका यह मानना है कि श्रुतियों के के इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि उक्त वर्णन में ब्रह्म के गुण या विशेषण को नहीं बताया गया है। उनके अनुसार ऐसा इसलिए नहीं है, क्योंकि श्रुतियों द्वारा ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन किया गया है, वह भावात्मक निरूपण न होकर अभावात्मक निरूपण है। इसके अतिरिक्त ब्रह्म के सत् से असत् की, चित् से अचित् की और आनन्द से अपूर्णता या दुःख की व्यावृत्ति होती है। अर्थात् इससे यह व्यक्त होता है कि ब्रह्म असत्, अचित् एवं अपूर्ण नहीं है। इतना ही नहीं शंकराचार्य के द्वारा श्रुतियों के दिये गये उद्धरण से यह भी प्रकट होता है कि ब्रह्म में सभी प्रकार के भेदों का अभाव होने के कारण उसमें विशेष्य–विशेषण भाव की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। वास्तविकता यह है कि श्रुतियाँ बारम्बार ब्रह्म को नित्य सत्, शुद्ध चैतन्य और अखण्ड आनन्द बताती है। ब्रह्म त्रिकालाबाधित सत् है और कूटस्थ नित्य तथा अपरिणामी है। शंकराचार्य सत्, चित्त एवं आनन्द को तात्विक रूप में एक ही मानते हैं, क्योंकि सत् और चित् दोनों का ही अन्तर्भाव आनन्द में करते हैं। इसलिए उनकी यह स्पष्ट मान्यता है कि जो सत् है, वही चित् है वही आनन्द है और वही ब्रह्म है। शंकराचार्य के अनुसार यही ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है।

1.3.3 शंकराचार्य के द्वारा लौकिक दृष्टान्त के द्वारा ब्रह्म के तटस्थ लक्षण और स्वरूप लक्षण का भेद

शंकराचार्य लौकिक जीवन के दृष्टान्त के द्वारा भी ब्रह्म के स्वरूप एवं तटस्थ लक्षण के भेद को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। शंकराचार्य उस गड़ेरिया का उदाहरण देते हैं, जो रंगमंच पर राजा बनकर अभिनय करता है। वास्तविक दृष्टि से वह व्यक्ति गड़ेरिया है और गड़ेरिया के रूप ही उसका जो स्वरूप लक्षण है, वह उसे गड़ेरिया के रूप में परिभाषित किया है। परन्तु जब वह गड़ेरिया रंगमंच पर अभिनय करता है, तब वह एक राजा, विजेता तथा शासक के रूप में प्रतीत होता है। यह उस गड़ेरिया का तटस्थ लक्षण है। इस उदाहरण के द्वारा शंकराचार्य यह स्पष्ट करते हैं कि ब्रह्म का तटस्थ लक्षण केवल यह बताता है कि ब्रह्म वह अपरिवर्तनशील तत्व है, जिसका आभास यह जगत है, किन्तु इससे यह नहीं ज्ञात होता है कि ब्रह्म क्या स्वरूप है? शंकराचार्य ने ब्रह्म के स्वरूप को उद्‌घाटित करने के लिए ही उसके स्वरूप लक्षण का उल्लेख किया है। शंकराचार्य इस बात पर भी बल देते हैं कि ब्रह्म तटस्थ लक्षण (जगत् कर्त्तृत्व) मात्र व्यावहारिक दृष्टि से सत्य है। इसका विधान अविद्या से ग्रस्त प्राणी को ब्रह्म की एक झलक प्रदान करने तथा ब्रह्मजिज्ञासा की ओर अनुभव होने के लिए है। परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से जगत् के सम्बन्ध को लेकर ब्रह्म पर जितने भी विशेषण आरोपित किये जाते हैं, वह उनसे अतीत है।

1.3.4 शंकराचार्य द्वारा ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप और औपाधिक स्वरूपक के स्पष्टीकरण हेतु जादूगर का दृष्टान्त

शंकराचार्य ने ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप और औपाधिक स्वरूप के स्पष्टीकरण के लिए एक जादूगर का दृष्टान्त देते हुए यह कहते हैं कि जादूगर केवल उन्हीं लोगों के लिए चमत्कारी है, जो उसके जादू से प्रभावित होते हैं, और उसके द्वारा दिखाये गये जादुई खेल को सत्य मानते हैं। परन्तु जो लोग उसके माया जाल से प्रभावित नहीं होते हैं, उनके लिए वह जादूगर चमत्कारी नहीं है। इसी प्रकार अज्ञानी लोगों की दृष्टि में जगत सत्य है और ब्रह्म जगत् का कारण या सृष्टिकर्ता है, किन्तु तत्वज्ञानियों के लिए न कोई सृष्टि है और न कोई वास्तविक सृष्टिकर्ता है। वस्तुतः शंकराचार्य का यह स्पष्ट अभिमत है कि ब्रह्म जगत् में व्याप्त भी है और उससे अतीत भी है। पारमार्थिक दृष्टि से जगत् की कोई सत्ता नहीं है। शंकराचार्य के अनुसार जगत् व्यावहारिक दृष्टि से ही सत्य है। परन्तु उनका यह भी कहना है कि व्यावहारिक दृष्टि से अस्तित्ववान तथा सत्य होते हुए भी जगत्, अपनी सत्ता के लिए ब्रह्म पर निर्भर रहता है, तथापि ब्रह्म जगत् के सुख–दुःख, पाप–पुण्यादि से वैसे ही प्रभावित नहीं होता, जैसे रंगमंच का पात्र राज्य लाभ या राज्य हानि से किसी प्रकार प्रभावित नहीं होता। पुनश्च जीव भी ब्रह्म से अभिन्न है। जीव अज्ञान के कारण ब्रह्म से अपने को भिन्न समझते हुए अपने पृथक् अस्तित्व की अनुभूति करता है। परन्तु जीव द्वारा ब्रह्म से भिन्न समझा जाना तभी तक रहता है, जब तक वह ब्रह्म की आत्मानुभूति नहीं करता है। ज्योंही जीव स्वयं को ब्रह्म के रूप में समझ लेता है, त्योंही वह ब्रह्म से तादात्म्य प्राप्त कर लेता है। अतएव जीव परमार्थतः ब्रह्म से अभिन्न है।

1.4 शंकराचार्य के अद्वैत–वेदान्त में ब्रह्म के दो रूप–निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म

शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म पारमार्थिक दृष्टि से निर्गुण है। शंकराचार्य द्वारा ब्रह्म को निर्गुण कहने का यह तात्पर्य नहीं है कि वह शून्य है। इसका तात्पर्य केवल यह है कि बुद्धि द्वारा कल्पित कोई भी रूप उसका वास्तविक स्वरूप नहीं है। बुद्धि द्वारा प्रकल्पित कोई भी अवधारणा उस पर लागू नहीं होती। शंकराचार्य का यह भी मानना है कि निर्गुण ब्रह्म ही जगत के कारण की दृष्टि से सगुण हो जाता है। ब्रह्म की सगुण अवस्था माया से सम्पृक्त अवस्था है और इसे अद्वैत–वेदान्त में ईश्वर कहा जाता है। अद्वैत वेदान्त में जगत की अपेक्षा से या व्यावहारिक दृष्टि से ईश्वर या सगुण ब्रह्म की अवधारणा को स्वीकार किया गया है। वास्तविकता यह है कि अद्वैत–वेदान्त पारमार्थिक स्तर पर ब्रह्म के सगुण रूप को अस्वीकार करता है, क्योंकि उसका यह मानना है कि जीव और जगत के साथ सगुण ब्रह्म के सम्बन्ध की तार्किक व्याख्या नहीं की जा सकती। शंकराचार्य का यह कहना है कि सगुण ब्रह्म की अवधारणा अध्यास गर्भित है और ईश्वर की भाँति अन्तिम नहीं है। यद्यपि सगुण ब्रह्म का आदर्श दर्शन की पराकष्ठा के रूप स्वीकार किए जाने के लिए अपर्याप्त है, तथापि वह महत्वहीन नहीं है। सगुण ब्रह्म की व्यावाहारिक उपादेयता है, क्योंकि यह हमें एक नैतिक आदर्श प्रदान करता है। साधक सगुण ब्रह्म को अपना आराध्य बना करके नैतिक पूर्णता की ओर उन्मुख होता है जिसके, द्वारा वह आत्मानुभूति करता है, जो मोक्ष–प्राप्ति के लिए अपरिहार्य है। परन्तु शंकराचार्य के अद्वैत–वेदान्त में निर्गुण ब्रह्म सगुण ब्रह्म का व्याघाती नहीं है, बल्कि उसका अन्तस्थ सत्य है। इसके अतिरिक्त निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म एक ही पारमार्थिक सत्ता के दो रूप हैं। इसलिए पारमार्थिक दृष्टि से निर्गुण ब्रह्म एवं सगुण ब्रह्म तत्वतः एक ही है। सगुण ब्रह्म या ईश्वर निर्गुण ब्रह्म का ही प्रतिरूप है। शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म जगत की अपेक्षा सगुण है, किन्तु निरपेक्ष रूप से वह निर्गुण पर ब्रह्म है।

1.5 अद्वैत वेदान्त का ब्रह्म सभी प्रकार के भेदों से रहित है

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म एक ऐसी अभेद सत्ता है, जो सजातीय, विजातीय तथा स्वगत सभी भेदों सें रहित है। एक ही प्रकार वस्तुओं के बीच जो भेद पाया जाता है, उसे सजातीय भेद कहते हैं, जैसे एक गाय और दूसरी गाय के बीच भेद। दो असमान वस्तुओं के बीच पाये जाने वाले भेद को विजातीय भेद कहते हैं जैसे गाय और घोड़े के बीच में भेद। एक ही वस्तु में अंगादि भेद स्वगत भेद है, जैसे किसी गाय के पैर, कान, पूंछ इत्यादि में जो भेद है वह स्वगत भेद है। ब्रह्म में सजातीय भेद नहीं है क्योंकि उसके समान कोई अन्य सत्ता नहीं है। ब्रह्म में विजयतीय भेद नहीं है क्योंकि ब्रह्म की कोई विरुद्ध धर्मी सत्ता नहीं है। उसमें अंगांगि भेद का अभाव होने के कारण स्वगत भेद भी नहीं है। इस प्रकार शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म सभी भेदों से रहित, निर्गुण, निर्विशेष तथा निर्विकल्प सत्ता है।

1.6 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म अनिर्वचनीय सत्ता है

शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म अनिवर्चनीय सत्ता है क्योंकि वह निर्गुण, निर्विशेष होने के कारण अलक्षण है। परिणामतः उसे विचार का विषय नहीं बनाया

जा सकता। अतएव ब्रह्म का निषेधात्मक वर्णन ही किया जा सकता है। आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के विचारक स्पिनोजा भी ईश्वर को निर्गुण एवं अनिर्वचनीय मानते हैं। उनकी यह मान्यता है कि 'प्रत्येक निर्वचन निषेधात्मक है। (Determinato Negato Esat) अर्थात् जब हम किसी वस्तु में किसी विशेष गुणों का आरोप करते हैं, तो उसमें उत्पन्न अन्य गुणों का निषेध हो जाता है। जब बुद्धि द्वारा ब्रह्म को जानने का प्रयास किया जाता है, तो उससे सीमित होकर सविशेष बन जाता है। इसीलिए श्रुतियों का भी यह स्पष्ट मानना है कि ब्रह्म का सर्वोत्तम निरूपण नेति–नेति के रूप में ही हो सकता है। वास्तविकता यह है कि अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को अनिर्वचनीय कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि वह अज्ञेय है। अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को अनिर्वचनीय कहने का तात्पर्य यह है कि ब्रह्म बुद्धि की कोटियों से परे है। किन्तु वह अज्ञेय नहीं है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि सामान्य इन्द्रियों की सहायता से ब्रह्म का ज्ञान संभव नहीं है, किन्तु ब्रह्म साक्षात्कार के अन्य साधन हैं और उसे अपरोक्षानुभूति से जाना जा सकता है। अपरोक्षानुभूति ब्रह्म का एक ऐसा अनुभव है, जिसमें ब्रह्म होकर ही उसे जाना जा सकता है।

1.7 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म और ईश्वर

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म का सगुण एवं सविशेष रूप ईश्वर कहलाता है। शंकराचार्य के अनुसार मायोपहित ब्रह्म ईश्वर कहलाता है। उनके अनुसार ब्रह्म जब माया की उपाधि से युक्त होता है, तो वह ईश्वर के रूप में जाना जाता है। वस्तुतः ब्रह्म जब माया में प्रतिबिम्बित या माया से सीमित होता है, तो वह ईश्वर कहलाता है। शंकराचार्य के अनुसार ईश्वर ब्रह्म का सर्वोच्च आभास है। ईश्वर व्यक्तित्व पूर्ण एवं सर्वगुणसम्पन्न हैं। ईश्वर सृष्टिकर्त्ता पालक एवं संहारक है। इसलिए शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में ईश्वर ही ज्ञान स्वरूप, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान एवं विभु सत्ता होने के कारण उपासकों एवं भक्तों के लिए उपासना का विषय है। ईश्वर सृष्टि में अन्तर्यामी और विश्वातीत दोनों है। यद्यपि कुछ विचारक ब्रह्म एवं ईश्वर में भेद करते हैं और उनका यह मानना है कि ब्रह्म निर्गुण निराकार एवं निर्विशेष है, किन्तु ईश्वर सगुण साकार तथा सविशेष है। ब्रह्म दर्शन की पराकष्ठा है और ईश्वर धर्म का साध्य है। ब्रह्म व्यक्त्तिव रहित सत्ता है, जबकि ईश्वर व्यक्तित्वयुक्त सत्ता है। ब्रह्म सृष्टिकर्त्तृत्व से युक्त है और ईश्वर ब्रह्म की प्रतीतिमात्र है। परन्तु वास्तविकता यह है कि ब्रह्म एवं ईश्वर दो पृथक सत्ताएं नहीं है, बल्कि व्यावहारिक दृष्टि से जिसे ईश्वर कहते हैं वह पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म है। ईश्वर ब्रह्म निर्वैयक्तिक ब्रह्म का व्यक्तित्वयुक्त रूप है। ईश्वर ब्रह्म का सर्वोच्च आभास है। यद्यपि पमरार्थतः ब्रह्म और ईश्वर में कोई भेद नहीं है, फिर भी अद्वैत वेदान्त में ईश्वर की अवधारणा का विशेष महत्व है। शंकराचार्य का यह मानना है कि ईश्वर से होकर ही सर्वोच्च निरपेक्ष सत्ता ब्रह्म तक पहुँच सकते हैं। अद्वैत वेदान्त का यह दृढ़ विश्वास है कि जब तक जीवन को जगत के अपूर्णता एवं मिथ्यात्व का ज्ञान हीं होता है। तब तक वह ईश्वर को ही अपना आराध्य बनाता है और ब्रह्म के साक्षात्कार के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहता है। अतएव ब्रह्म और ईश्वर एक ही सत्ता को तात्विक रूप में दो दृष्टि से देखने के दो रूप हैं।

1.8 शंकराचार्य के अनुसार ईश्वर की सिद्धि श्रुतिवाक्यों से होती है, अनुमान या तर्क से नहीं

शंकराचार्य ने ईश्वर या ब्रह्म की सत्ता को श्रुतिवाक्यों के आधार पर सिद्ध मानते हैं और उसके लिए अनुमान या तर्क की कोई आवश्यकता नहीं मानते हैं। यही कारण है कि उन्होंने अन्यान्य भारतीय दार्शनिकों द्वारा ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए दी गयी युक्तियों का खण्डन किया है। उनका यह मानना है कि ईश्वर को सृष्टि का निमित्तकारण बताने वाली विचारधाराएँ ईश्वर को सीमित कर देती हैं, क्योंकि उसे सृष्टि विषयक सामग्री के लिए अन्य तत्व (जड़तत्व) पर निर्भर होना पड़ता है। सृष्टिकर्ता ईश्वर यदि उपादान के लिए किसी अन्य तत्व पर निर्भर रहता है, तो वह सर्वशक्तिमान पूर्ण एवं निरपेक्ष सत्ता नहीं हो सकता है। इसी प्रकार शंकराचार्य ईश्वर परिणामवाद को भी अस्वीकार करके ब्रह्म या ईश्वर जो जगत का 'अभिन्ननिमित्तोपादान करण' स्वीकार किया तथा जगत को ईश्वर का विवर्त माना है। यहाँ उल्लेखनीय यह है कि पाश्चात्य दर्शन के भी अधिकांश विचारक ईश्वर की सत्ता के लिए युक्तियों को पर्याप्त मानते हैं। प्रसिद्ध जर्मन दार्शनिक काण्ट ने यह स्पष्ट रूप कहा है कि ईश्वर तर्क का विषय न होकर श्रद्धा का विषय है।

1.9 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में आत्मा और ब्रह्म

शंकराचार्य आत्मा और ब्रह्म के तादात्म्य को उपनिषद् के ऋषियों की महान देन मानते हैं। शंकराचार्य और उपनिषद् के ऋषियों की परम्परा का अनुगमन करते हुए आत्मा एवं ब्रह्म के अभेद का प्रतिपादन किया हैं शंकराचार्य के अनुसार 'सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्ति प्रसिद्धिः' अर्थात् सव के आत्मतत्व के रूप में ब्रह्म का अस्तित्व प्रसिद्ध है। एक अन्य स्थान पर उन्होंने यह कहा है कि– 'आत्मव्यतिरेको अग्रहणात् आत्मैव सर्वम्' अर्थात् आत्मा के बिना सभी वस्तुएँ अग्रहीत होने के कारण आत्मा ही सब कुछ है। सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यदि श्रुति वाक्यों से भी आत्मा एवं ब्रह्म के बीच अभेद की सिद्धि होती है। वस्तुतः शंकराचार्य सर्वत्र यह प्रतिपादित किया है कि एक ही तत्व है और वह ब्रह्म या आत्मा है। इसीलिए उनका यह मानना है कि संसार में दृष्टिगत होने वाला विषयी–विषय में भेद ज्ञाता–ज्ञेय में भेद, जीव और ईश्वर में भेद सब माया कि सृष्टि या मिथ्या है। वास्तव में जीव के सारतत्व की दृष्टि से विचार करने पर उस एकमात्र तत्व को आत्मा कहते हैं और वाह्य जगत के आधारतत्व के दृष्टि से उसे ब्रह्म कहते हैं।

शंकराचार्य ब्रह्मसूत्रभाष्य की प्रस्तावना में अनुभव के आधार तत्व के रूप में शुद्ध आत्मतत्व की सत्ता का प्रतिपादन करते हैं जो उसे ही सच्चिदानन्द की संज्ञा से अभिहित करते हैं। शंकराचार्य का यह मानना है कि मनुष्य के जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति की तीन अवस्थाओं में जो अपरिवर्तनशील तत्व है वह चिन्मात्र या ज्ञानमात्र है। इस प्रकार आत्मा का वास्तविक स्वरूप चैतन्य मात्र या निर्विषयक सत्ता है, जिसे शंकराचार्य 'साक्षी' के रूप में व्यक्त करते हैं। इसीलिए उनका यह मानना है कि आत्मा वास्तविक स्वरूप तुरीयावस्था में अभिव्यक्त होता है जो आन्तरिक एवं वाह्य सभी विषय के अभाव की अवस्था है जो शुद्ध चैतन्य स्वरूप और आनन्द स्वरूप होने के कारण ही सच्चिदानन्द है। अतएव आत्मा एवं ब्रह्म अभिन्न हैं।

1.10 शंकराचार्य के अनुसार जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध

शंकराचार्य के अनुसार जीव आत्मा या ब्रह्म का ही व्यावहारिक रूप है। जिसे हम जीव कहते हैं, वह अभौतिक (चैतन्य) एवं भौतिक तत्वों का योग है। अतएव जिसे 'जीव' कहते हैं, वह अन्तःकरण में व्याप्त चैतन्य है। यह 'जीव' अंह प्रत्यय का विषय होने के कारण ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता है। जीव भी परमार्थतः ब्रह्म ही माना जाता है। ब्रह्म से पृथक् जीव की कोई सत्ता नहीं है। जीव अनादि अविद्या के कारण ब्रह्म से भिन्न अपने अस्तित्व का अनुभव करता है और जब अविद्या का उच्छेद हो जाता तो उसे ब्रह्मज्ञान या आत्म ज्ञान हो जाता है। जीव ब्रह्म से अपनी अनन्यता समझने लगता है। उसे यह स्पष्ट ब्रह्मात्मैक्य की अनुभूति होने लगती है। शंकराचार्य जीव और ब्रह्म की भिन्नता को सिद्ध करने के लिए प्रतिबिम्बवाद, अवच्छेदवाद और अभासवाद का सहारा लेते हैं। प्रतिबिम्ब वाद के अनुसार ब्रह्म का अविद्या में प्रतिबम्ब जीव है। अतएव ब्रह्म और जीव में बिम्ब–प्रतिबिम्ब सम्बन्ध है। परन्तु कुछ आलोचक प्रतिबिम्बवाद को इस आधार पर अस्वीकार करते हैं कि निराकर चैतन्य स्वरूप ब्रह्म का प्रतिबम्ब विद्या पर कैसे पड़ सकता है? अद्वैत वेदान्त के भामती–प्रस्थान के अनुयायी अवच्छेदवाद के आधार पर ब्रह्म और जीव के एकतत्व का प्रतिपादन करते हैं। अवच्छेदवाद के समर्थक अद्वैत वेदान्तियों का कहना है कि यद्यपि आकाश सर्वव्यापी और एक है, तथापि वह घट, मठ आदि भेद से धटाकाश एवं मठाकाश आदि रूप में आभासित होता है, उसी प्रकार यद्यपि ब्रह्म सर्वव्यापी एवं एक है तथापि वह अविद्या के कारण उपाधि भेद से नानाजीवों के रूपमें प्रतीत होता है। इस प्रकार अविद्या के कारण अनन्त एवं सर्वव्यापी ब्रह्म सीमित एवं शान्त जीवों के रूप में आभासित होता है। अतएव भामती प्रस्थान के समर्थक अद्वैतवादी अवच्छेदवादी अवधारणा के आधार पर ब्रह्म एवं जीव के अभेद सम्बन्ध की स्थापना करते हैं। अद्वैत वेदान्ती सुरेश्वराचार्य ने आभासवाद के आधार पर ब्रह्म एवं जीव के भेद का समर्थन करते हैं। सुरेश्वराचार्य जीव को ब्रह्म का अभास या मिथ्या प्रतीति मानते हैं। उनके अनुसार अविद्या के कारण ही ब्रह्म जीव के रूप में आभासित होता है। अविद्या भ्रान्ति है अतएव ब्रह्म का जीव के रूप में आभास भी मिथ्या है और अविद्या के निरसन होने पर ब्रह्म एवं जीव के एकान्त का ज्ञान हो जाता है।

1.11 शंकराचार्य एवं रामानुज के ब्रह्म विचार में भेद

शंकराचार्य की ब्रह्म सम्बन्धी अवधारण अद्वैत वेदान्त के रूप में प्रचिलत है, जबकि रामनुज की ब्रह्म सम्बन्धी विचार विशिष्टाद्वैत के रूप में जाना जाता है। शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म निर्गुण एवं सगुण दोनों है। वह पारमार्थिक दृस्टि से निर्गुण किन्तु हमारे व्यावहारिक प्रयोग की दृष्टि से सगुण है। इसके विपरीत रामानुज की दृष्टि में मात्र सगुण और सविशेष है। वह कभी भी निर्गुण या निर्विशेष नहीं हो सकता। शंकराचार्य का ब्रह्म अद्वैत सत्ता होने के कारण भेद रहित सत्ता है। अतएव शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म सभी प्रकार के सजातीय, विजातीय एवं स्वगत भेद से रहित है। इसके विपरीत रामानुज के ब्रह्म में सजातीय एवं विजातीय भेद तो नहीं है, किन्तु उसमें स्वगत भेद है। शंकराचार्य का ब्रह्म व्यक्तित्वरहित एवं अमूर्त सत्ता है, किन्तु रामानुज का ब्रह्म व्यक्तित्वसहित एवं मूर्त सामान्य है। शंकराचार्य ब्रह्म और ईश्वर में भेद करते हैं। वे ब्रह्म को ही एकमात्र सत् मानते हैं तथा ईश्वर को ब्रह्म का अभास मात्र मानते हैं। यद्यपि शंकराचार्य रामानुज दोनों ब्रह्म को सच्चिदानन्द कहते हैं, किन्तु शंकराचार्य के अनुसार सत्,

चित् और आनन्द ब्रह्म का गुण न होकर स्वरूप है अर्थात ब्रह्म सच्चिदानन्द स्वरूप है। जबकि रामनुज सत्, चित एवं आनन्द को ब्रह्म का गुण मानते हैं। शंकराचार्य के अनुसार माया ब्रह्म की उपाधि मात्र होने के कारण नित्य स्वरूप नहीं है। किन्तु रामानुज माया को ब्रह्म का नित्य अंश मानते हैं। शंकराचार्य पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म की ही एकमात्र सत्ता को स्वीकार करते हैं। वह जगत् को मिथ्या तथा ईश्वर और जीव को ब्रह्म का आभास मात्र कहते हैं और जीवों को परमार्थतः ब्रह्म से अभिन्न मानते हैं। जहाँ तक रामानुज का सवाल है वह ब्रह्म के साथ जीव और जगत को भी नित्य मानते हैं।

1.12 निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि शंकर के अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म वह शुद्ध सत्ता है, जो समस्त सृष्टि का मूल कारण है। वह नाना रूपों में अभिव्यक्त होने पर भी स्वयं निर्गुण एवं निराकार है। भिन्न भिन्न अवयवों में होने पर भी निरवयव है तथा शान्त विषयों में भासमान होने पर भी वस्तुतः अनन्त है। शंकराचार्य इस आनन्द निर्विशेष सत्ता को ही सम्पूर्ण सृष्टि का मूलतत्व या उपादान कहते हैं और इसी सत्ता को ब्रह्म भी कहते हैं। इस प्रकार शंकराचार्य अपने ब्रह्म सम्बन्धी विचार में यह स्पष्ट रूप से वर्णन करते हैं कि संसार के सभी परिच्छिन्न और परिवर्तनशील विषयों का मूल अधिष्ठान (और उपादान) शुद्ध निर्विशेष सत्ता है। सांसारिक विषयों के परस्पर बाधित होने के कारण इन्हें पूर्णतः सत्य नहीं माना जा सकता। केवल ब्रह्म ही वह शुद्ध सत्ता है जो अनुभूत एवं संभाव्य विरोध से रहित होने के कारण एकमात्र निरपेक्ष सत् है। शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म शुद्ध अपरिच्छिन्न या अनन्त स्वरूप है। यद्यपि सृष्टि के प्रत्येक विषय में ब्रह्म अभिव्यक्त होता है और यह प्रपंचात्मक जगत अनेक नाम–रूपात्मक रूप में अभासित है, तथापि इसका एकमात्र आधारतत्व ब्रह्म ही है।

प्रश्नावली

लघु उत्तरीय प्रश्न–

1. ब्रहम का तटस्थ एवं स्वरूप लक्षण क्या है?
2. शंकराचार्य के अनुसार ब्रहम विचार पर चर्चा करें।
3. ब्रहम के दोनों रूपों की व्याख्या करें।
4. शंकराचार्य के अनुसार जीव और ब्रहम का सम्बन्ध स्पष्ट करें।
5. शंकराचार्य और रामानुज के ब्रहम विचार के भेद को स्पष्ट करें।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न–

1. अद्वैत वेदान्त में ब्रहम की अवधारणा पर एक निबन्ध लिखिए।
2. अद्वैत वेदान्त में ईश्वर की व्याख्या करें।

****

इकाई—2

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में जगत का मिथ्यात्व

संरचना

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में मिथ्यात्व का अर्थ और जगत मिथ्यात्व का निहितार्थ

2.3 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में जगन्मिथ्यात्व का अर्थ

2.4 शंकराचार्य सामान्यतोदृष्ट के अनुमान के आधार पर भी जगत मिथ्यात्व का प्रतिपादन करते हैं।

2.5 शंकराचार्य के द्वारा अध्यास के आधार पर जगत के पारमार्थिक सत्ता का निषेध और जगत के मिथ्यात्व कर प्रतिपादन

- 2.5.1 अध्यास का प्रथम लक्षण
- 2.5.2 अध्यास का द्वितीय लक्षण
- 2.5.3 अध्यास का तृतीय लक्षण

2.6 अद्वैत वेदान्त के जगत् विषयक सिद्धान्त की विवर्तवादी व्याख्या

2.7 शंकराचार्य ने ब्रह्म विवर्तवाद की स्थापना के लिए ब्रह्म परिणामवाद का खण्डन किया है

2.8 जगत

2.9 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में अभासिक सत्ता में भी दो रूप माने गये हैं— प्रतिभास और व्यवहार

2.10 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में सत्ता के तीन रूप माने गये हैं— पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रतिभासिक

2.11 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त के जगत—विचार का अन्य भारतीय दर्शन के जगत्—विचार से तुलनात्मक निरूपण

2.12 निष्कर्ष

2.0 उद्देश्य

शंकराचार्य ने 'ब्रह्मसत्यं जगत् मिथ्या, जीवो ब्रह्मेंव नापरः' कहकर अपने सम्पूर्ण अद्वैतवादी चिन्तन को अभिव्यक्त कर देते हैं। उनकी यह स्पष्ट मान्यता है कि ब्रह्म ही सत्य है, जगत मिथ्या है तथा जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है। प्रस्तुत

इकाई में शंकराचार्य के इस दृष्टि को स्पष्ट रूप से निरूपित करने का प्रयास किया जा रहा है कि पारमार्थिक दृष्टि से एकमात्र ब्रह्म ही सत् है, क्योंकि सत् वही है हो सकता है जिसका त्रिकाल में बाध न हो सके। जहाँ तक ब्रह्म का सवाल है तो उनके अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र ऐसी सत्ता है जो त्रिकालबाधित होने के कारण सत् है। ब्रह्म के अतिरिक्त ईश्वर, जीव और जगत केवल निर्गुण एवं निराकार ब्रह्म का आभास मात्र है। यद्यपि इन सब की प्रतीति तो होती है, किन्तु यथार्थता की कसौटी के आधार पर आनुभविक जगत का मिथ्यात्व प्रकट होता है। शंकराचार्य व्यावहारिक दृष्टि से जगत की सत्यता को मानते हैं, किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म ही एकमात्र निरपेक्ष सत् है जिससे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की अभिव्यक्ति होती है।

2.1 प्रस्तावना

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को ही एकमात्र पारमार्थिक दृष्टि से सत् मानकर जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करते हैं। शंकराचार्य अपने अद्वैत वेदान्त में इस प्रश्न पर विचार करते हैं कि यदि ब्रह्म सत्य है और अद्वय है तो वह नाना रूपात्मक मिथ्या जगत् की रचना कैसे करता है? कारणता सिद्धांत के अनुसार सत् से सत् की ही उत्पत्ति होती है। ऐसी स्थिति में सत् ब्रह्म से मिथ्या जगत की उत्पत्ति को मानना लोक व्यवहार के विरुद्ध जान पड़ता है। इतना ही नहीं ब्रह्म अपरिवर्तनशील सत्ता है और जगत परिवर्तन शील सत्ता है ऐसी स्थिति में यह भी समस्या उत्पन्न होती है कि अपरिवर्तनशील सत्ता का रूपान्तरण परिवर्तनशील जगत में कैसे होता है? शंकराचार्य उपर्युक्त समस्या के समाधान के लिए मायावाद और विवर्तवाद का सहारा लेते हैं। उनका यह स्पष्ट अभिमत है कि सृष्टि कर्तृत्व ईश्वर का गुण है और वे अपनी माया शक्ति की सहायता से जगत की रचना करते हैं। शंकराचार्य के अनुसार 'माया' ईश्वर की शक्ति है। उनका यह मानना है कि जिस प्रकार अग्नि की दाहकता अग्नि से अभिन्न है उसी प्रकार माया भी ईश्वर से अभिन्न है। उनका यह कहना है कि इसी माया के द्वारा मायावी ईश्वर वैचित्र्यपूर्ण सृष्टि की अद्भुत लीला दिखाते हैं। इसी लीला को अज्ञानी सत्य समझ लेते हैं, किन्तु जो तत्वज्ञानी हैं अर्थात् जिनके अन्दर ब्रह्मज्ञान का उदय हो गया है, वे जगत् को मिथ्या या असत् या भ्रान्तिमात्र मानते हैं, क्योंकि उनके अनुसार जगत अधिष्ठान रूपी ब्रह्म के सत् से असत् की प्रतीति मात्र है, जगत की यथार्थ सत्ता नहीं है क्योंकि यदि यथार्थ सत्ता केवल ब्रह्म की है जिस पर आश्रित होकर यह जगत् नाना रूपात्मक प्रपंच के रूप में भासित होता है। यही कारण है कि ब्रह्मज्ञानी मायावी ईश्वर की सृष्टि की अद्भुत लीला को समझ जाते हैं और इस मायामय संसार में केवल ब्रह्म मात्र उन्हें सत्य ज्ञान पड़ता है, ब्रह्म से इतर अन्य सभी वस्तुएँ स्वप्न या भ्रम की भाँति मिथ्या जान पडती हैं। अतएव जगत् की व्यावहारिक रूप में सत्य तो है, किन्तु यह तभी तक सत्य है जब तक पारमार्थिक सत् के रूप में ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो जाता है, क्योंकि ब्रह्मज्ञान से मिथ्या रूपी जगत का तिरोभाव हो जाता है।

2.2 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में मिथ्यात्व का अर्थ और जगत मिथ्यात्व का निहितार्थ

अद्वैत वेदान्त में मिथ्यात्व शब्द की अनेक अर्थों में व्यंजना हुई है। अद्वैत वेदान्त की एक परिभाषा के अनुसार जो सत् और असत् दोनों से विलक्षण है वह

मिथ्या है। तार्किक दृष्टि से सद्सद्विलक्षण वस्तु अनिवर्चनीय है। अद्वैत वेदान्त में सत् और असत् शब्द आत्यन्तिक अर्थ में प्रयुक्त होते हैं। सत् का लक्षण करते हुए यह कहा गया है कि 'त्रिकालाबाध्यत्वं लक्षण सत्' अर्थात् केवल वही पदार्थ सत् है, जो भूत, वर्तमान और भविष्यत् इन तीनों कालों में बाधित न हो, जिसका तीनों कालों में निषेध संभव न हो। शंकर वेदान्त में इस अर्थ में ब्रह्म या आत्मा ही एकमात्र त्रिकाल अबाधित एवं पारमार्थिक दृष्टि से सत् है। इसी प्रकार असत् वह है, जिसकी तीनों कालों में सत्ता न हो और जिसमें सत् के रूप में कभी भी प्रतीति होने की सामर्थ्य न हो। इस दृष्टि से बन्ध्यापुत्र, शशश्रृंग और आकाश कुसुम असत् है क्योंकि ये तीनों कालों में अनस्तित्ववान हैं। अद्वैत वेदान्त की मान्यता है कि हमारे लोक व्यवाहर में कोई भी वतु ऐसी नहीं है, जिसे सत् या असत् कोटि में रखा जाएँ, जैसे रज्जु सर्प का अनुभव सदसद्विलक्षण एवं अनिवर्चनीय होने के कारण मिथ्या है। रज्जु–सर्प ज्ञान सत् नहीं है, क्योंकि कालान्तर में यह 'रज्जुज्ञान' से बाधित होता है। यह असत् भी नहीं है क्योंकि प्रतीति काल में इसके अनुरूप लोक व्यवहार होता है। इसे सत्–असत् दोनों मानने में आत्मविरोध है। अतएव इसे सदसद्विलक्षण या मिथ्या कहना ही युक्तिसंगत माना जाता है।

शंकराचार्य के अनुसार एक अन्य परिभाषा के द्वारा मिथ्यात्व वह है, जो अन्य ज्ञान से बाधित हो जाता हैं यहाँ शंकराचार्य के कहने का आशय यह है कि वह वस्तु–विषयक ज्ञान, जो परवर्ती ज्ञान से बाधित हो जाता है, वह मिथ्या है, जैसे रज्जु सर्प का ज्ञान, रज्जु ज्ञान से बाधित होने से मिथ्या है। इसी प्रकार स्वप्न ज्ञान जाग्रत ज्ञान से निवर्त्य होने के कारण मिथ्या है।

मिथ्यात्व की एक अन्य परिभाषा के अनुसार जो सत् से भिन्न है, वह मिथ्या है, जैसे रज्जु सर्प का ज्ञान सत् से भिन्न है, क्योंकि वह त्रिकालाबाधित नहीं है, अतः यह सर्प है, ऐसा अनुभव मिथ्या है।

इस प्रकार शंकराचार्य का यह स्पष्ट अभिमत है कि जो सद्विलक्षण है या परवर्ती ज्ञान से भिन्न है या सत् से भिन्न है, वह मिथ्या है। वास्तविकता यह है कि अधिष्ठान का ज्ञान होने के बाद ऐसे अनुभव अधिष्ठान के ज्ञान से बाधित या निवृत्य हो जाते हैं और अधिष्ठान ज्ञान में विलीन हो जाते हैं।

2.3 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में जगन्मिथ्यात्व का अर्थ

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त के अनुसार जगत की स्वतंत्र एवं निरपेक्ष सत्ता नहीं है। जगत् अपनी सत्ता के लिए पूर्णतया ब्रह्म पर आश्रित है। मायोपहित ब्रह्म या ईश्वर ही इस जगत् का मूल अधिष्ठान है। इसलिए ब्रह्म जगत का 'अभिनिमित्तोपादान' कारण है। माया ब्रह्म की वह शक्ति है, जिसके कारण ही निर्गुण एवं अद्वय ब्रह्म प्रपंचात्मक जगत् के रूप में आभासित होता है। शंकराचार्य के अनुसार जगत् माया रूप होने के कारण यथार्थ नहीं है। शंकराचार्य 'अनन्यत्व के दार्शनिक सिद्धांत' का प्रतिपादन करते हुए यह स्पष्ट रूप से घोषणा करते हैं कि जगत् ब्रह्म से अनन्य है। अतएव दोनों के मध्य सम्बन्ध की बात करना तात्विक दृष्टि से युक्ति संगत नहीं है। तात्विक दृष्टि से ब्रह्म एवं जगत् अद्वय हैं, जिसमें ब्रह्म सत् है और जगत ब्रह्म की प्रतीति मात्र है। इसलिए कारण –कार्य सम्बन्ध का प्रयोग ब्रह्म और जगत के विषय में उपयुक्त नहीं है, क्योंकि जगत् ब्रह्म से अनन्य है। वस्तुतः ब्रह्म एवं जगत के बीच तात्विक दृष्टि से भेद स्वीकार करने पर ही उनमें कारण–कार्य सम्बन्ध का प्रश्न सार्थक होता है। ब्रह्म को जगत का कारण लाक्षणिक अर्थ में ही माना जा सकता है क्योंकि ब्रह्म जगत का

अधिष्ठान है और जगत ब्रह्म का आभासमात्र है। माया अपनी आवरण शक्ति से ब्रह्म पर आवरण डालकर उसके यथार्थ स्वरूप को छिपा देती है और विक्षेप शक्ति से ब्रह्म के स्थान पर नानारूपात्मक प्रपंचात्मक जगत् को उत्थापित करती है। जीव माया या अविद्या से प्रभावित होकर इसी प्रपंचात्मक जगत् को सत्य मानने लगता है।

2.4 शंकराचार्य सामान्यतोदृष्ट के अनुमान के आधार पर भी जगत् मिथ्यात्व का प्रतिपादन करते हैं

शंकराचार्य सामान्यतोदृष्ट के अनुमान के आधार पर भी जगत् मिथ्यात्व का प्रतिपादन करते हैं। उन्होंने स्वप्न एवं भ्रम से जगत् की तुलना करते हुए इसके मिथ्यात्व को सिद्ध करते हैं। उनकी दृष्टि में ब्रह्म ही एकमात्र सत् है और ब्रह्म से भिन्न होने के कारण शुक्तिरजत के समान ब्रह्म–जगत् के बीच में सादृश्य है। इस प्रकार शुक्ति अधिष्ठान है और अधिष्ठान में भ्रम के कारण रजत की मिथ्या प्रतीति होती है, उसी प्रकार सत्– ब्रह्म पर जगत अध्यसित होने के कारण उसकी मिथ्या प्रतीति होती है। जिस प्रकार शुक्ति के ज्ञान से रजत के ज्ञान का बाध हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म ज्ञान से जगत का निरसन हो जाता है। अतएव जगत की सत्ता पारमार्थिक दृष्टि से सत् नहीं माना जाता है, वह मिथ्या है।

2.5 शंकराचार्य के द्वारा अध्यास के आधार पर जगत के पारमार्थिक सत्ता का निषेध और जगत के मिथ्यात्व का प्रतिपादन,

शंकराचार्य जगत् को मिथ्यात्व सिद्ध करने के लिए अध्यास के आधार पर जगत का निषेध करते हैं। शंकराचार्य के अनुसार अध्यास के तीन लक्षण हैं, जिनमें कोई तात्विक भेद नहीं है। शंकराचार्य के द्वारा अध्यास के दिये गये लक्षण निम्नलिखित हैं –

2.5.1 अध्यास का प्रथम लक्षण

शंकराचार्य 'अध्यास' का प्रथम लक्षण देते हुए यह कहते हैं कि **–'अध्यासो नाम स्मृति रूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः** शंकराचार्य के अनुसार अध्यास पूर्व काल में देखी हुई वस्तु का स्मृति रूप में अधिकरण में अवभास है, जो उत्तरसन से बाधित हो जाता है। इस लक्षण के अनुसार अयास के तीन घटक हैं –

(1) वह वस्तु जो यहाँ इस समय प्रत्यक्ष उपस्थित है और सत् है, यह वस्तु भ्रम का अधिष्ठान या अधिकरण है, जिस पर किसी अन्य वस्तु का आरोप या अध्यास किया जाता है जैसे –रज्जु तथा शुक्ति।

(2) वह वस्तु जिसका पूर्वकाल में प्रत्यक्ष हुआ था और जो अपने स्वरूप में भले ही सत हो, किन्तु यहाँ इस समय उपस्थित न होने से असत् है, यह वस्तु अध्यस्त है अर्थात् इसका अध्यास अधिष्ठान पर किया जाता है, जैसे सर्प या रजत। यह स्मृति नहीं है, किन्तु इसका रूप स्मृति के समान इसके संस्कारों में उद्‌बुद्ध हो जाता है, जिसे अन्तःकरण गलती से उपस्थित अधिष्ठान पर (जिसका प्रत्यक्ष हो रहा है), आरोपित कर देता है (स्मृति रूप में)।

(3) आरोप या तादाम्य की क्रिया अर्थात् अध्यस्त वस्तु (सर्प या रजत) का उपस्थित अधिष्ठान (रज्जु या शुक्ति) का आरोप किया जाना।

इस प्रकार शंकराचार्य का यह मानना है कि जब उपर्युक्त तीनों घटक होंगे, तभी अध्यास या भ्रम होगा।

2.5.2 अध्यास का द्वितीय लक्षण

शंकराचार्य ने अध्यास का दूसरा लक्षण इस प्रकार दिया है– 'अन्यस्य अन्यधर्मावभासः अध्यासः' अर्थात् अध्यास किसी अन्य वस्तु (अधिष्ठान) का किसी अन्य वस्तु (अध्यस्त) के धर्म के रूप में अवभासित होता है। प्रत्येक वस्तु में द्रव्यांश (इदमंश) और धर्मांश दोनों होते हैं। एक वस्तु के द्रव्य पर किसी अन्य वस्तु के धर्म को आरोपित करना अध्यास है, जैसे रज्जु या शुक्ति के द्रव्यांश (इदम्) पर सर्पत्व या रजत्व धर्म का आरोप।

2.5.3 अध्यास का तृतीय लक्षण

शंकराचार्य अध्यास के तीसरे लक्षण को बताते हुए यह कहते हैं– 'अध्यासः अतस्मिन तद् बुद्धिः' अर्थात् अध्यास असत् में तद्बुद्धि है। कहने का तात्पर्य यह है कि अध्यास किसी वस्तु का (रज्जु या शुक्ति जो वस्तुत' शुक्ति या रजत् नहीं है) किसी अन्य वस्तु (सर्प या रजत) के रूप में ज्ञान है।

इस प्रकार शंकराचार्य यह दिखाते हैं कि अध्यास मिथ्या ज्ञान या अन्यथा ज्ञान हैं यह असत् का सत् पर आरोप है। यह सत्य और अनृत का मिथुनीकरण है। अध्यास में असत् 'सत' के रूप में प्रतीत होता है और बाद में अधिष्ठान के ज्ञान से बाधित जो जाता है। अध्यास में असत् अध्यस्त का सत् अधिष्ठान से तादात्म्य है। अध्यस्त पदार्थ स्वरूप से ही मिथ्या है। यह सत् अधिष्ठान पर आरोपित होकर सत् के रूप में प्रतीत होता है, किन्तु वस्तुतः यह प्रतीति के समय भी असत् है, क्योंकि अधिष्ठान के ज्ञान से यह बाधित हो जाता है। अधिष्ठान सत् है असत् अध्यस्त से उसका सम्बन्ध मिथ्या है, अतः संसर्ग से वह मिथ्या है। वास्तविकता यह है कि असत् और सत् दो भिन्न स्तरों के पदार्थ हैं अतः उनमें कोई वास्तविक सम्बन्ध नहीं हो सकता। तादात्म्य वस्तुतः सम्बन्ध नहीं है, अपितु भेद अभेद और भेदाभेद रूपी सम्बन्ध का अभाव है। तादात्म्य का केवल यही अर्थ है कि असत् की प्रतीति भी सत् पर आरोपित होकर ही हो सकती है। इस प्रकार शंकराचार्य अध्यास के निरूपण के द्वारा यह घोषित करते हैं कि एक मात्र पारमार्थिक सत्ता ब्रह्म की है, किन्तु माया के कारण हमें ब्रह्म के स्थान पर जगत का मिथ्या ज्ञान होता है। शंकराचार्य का कहने का तात्पर्य यह है कि जगत् स्वरूप से ही ब्रह्म में अध्यस्त है, जीव को अविद्या के कारण ब्रह्म के स्थान पर जगत् की प्रतीति होती है, किन्तु इससे ब्रह्म के पारमार्थिक स्वरूप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

2.6 अद्वैत वेदान्त के जगत् विषयक सिद्धान्त की विवर्तवादी व्याख्या

अद्वैत वेदान्ती शंकराचार्य विवर्तवाद के आधार पर जगत की व्याख्या करते हैं। शंकराचार्य के जगत् मिथ्यात्व की इस विवर्तवादी व्याख्या को 'ब्रह्मविवर्तवाद' कहते हैं। विवर्त शब्द का शाब्दिक अर्थ है –विपर्यास या उलट जाना। ब्रह्म–विवर्तवाद का अर्थ है कि 'जगत् ब्रह्म का विपर्यास है। अर्थात यह

देश–काल बुद्ध जगत् निरपेक्ष ब्रह्म का ही विवर्त या आभासमात्र (Appearance Only) है। शंकराचार्य कारणता के विषय में न्याय–वैशेषिक के असत्कार्यवाद के विपरीत सत्कार्यवाद का समर्थन करते हैं। परन्तु वे सत्कार्यवाद की परिणामवादी व्याख्या का खण्डन करते हैं। उसकी विवर्तवादी व्याख्या करते हैं। परिणामवाद एवं विवर्तवाद में तत्वतः भेद यह है कि परिणामवाद तात्विक परिवर्तन अथवा किसी वस्तु के तत्वतः रूपान्तरण को कहते हैं। किसी भी वस्तु के अतात्विक परिवर्तन या अतत्वतः अन्यथा प्रथा को विवर्त कहते हैं। अर्थात् कारण या यथार्थ रूप में कार्य में रूपान्तरण परिणाम है और यथार्थ रूप में रूपान्तरित हुए बिना कारण का कार्य के रूप में आभास होना विवर्त है। शंकराचार्य का कथन है कि असत्कार्यवाद के विरुद्ध सत्कार्यवादी युक्तियाँ ठीक हैं, क्योंकि असत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती, किन्तु सत्कार्यवाद (परिणामवाद) द्वारा उत्पत्ति या अभिव्यक्ति को वास्तविक मानना भी अनुचित है। शंकराचार्य के अनुसार यदि किसी भी वस्तु की उत्पत्ति उसका वास्तविक रूपान्तरण है और कार्य कारण का यथार्थ आकार परिवर्तन है, तो कार्य के आकार को उत्पत्ति के पूर्व असत् मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में सत्कार्यवाद में असत्कार्यवाद का प्रवेश होगा।

इस प्रकार शंकराचार्य का यह मानना है कि परिणामवाद कारण–कार्य सम्बन्ध की समस्या का सन्तोषजनक समाधान नहीं कर पाता। अद्वैत वेदान्त इस कारण स्वीकार करता है कि उत्पत्ति वास्तविक नहीं होती, केवल उत्पत्ति का आभास होता है। शंकराचार्य का यह स्पष्ट अभिमत है कि सत् अपरितर्वनशील और असत् अनुत्पाद्य है। अतः जो कुछ कारण–कार्यभाव दिखायी पड़ता है, अभासमात्र है, अविद्याजन्य है। शंकराचार्य ने विवर्तवाद के आधार पर यह प्रतिपादित किया है कि जगत पूर्णतया ब्रह्म पर आश्रित है। उसके द्वारा दिये गये दृष्टान्त रज्जु, शुक्ति, रजत, मृगमरीचिका आदि कारण (ब्रह्म) पर कार्य जगत् की पूर्णनिर्भरता दिखाते हैं और ब्रह्म को अपरिवर्तनशील सत् सिद्ध करते हैं। इस प्रकार परिणामवाद में कारण और कार्य दोनों ही सत् होते हैं, जबकि विवर्तवाद में कारण ही सत् होता है और कार्य व्यवहारतः अभासरूप तथा तत्वतः सत् नहीं होता है।

2.7 शंकराचार्य ने ब्रह्म विवर्तवाद की स्थापना के लिए ब्रह्म परिणामवाद का खण्डन किया है

शंकराचार्य द्वारा ब्रह्मविवर्तवाद की स्थापना के लिए ब्रह्म परिणामवाद का खण्डन किया है। उनका कहना है कि ब्रह्म परिणामवाद में जगत् को ब्रह्म का वास्तविक आकार परिवर्तन माना जाता है। शंकराचार्य ब्रह्म परिणामवाद को अस्वीकार करते हैं और ब्रह्म परिणामवाद के विषय में यह प्रश्न उठाते हैं कि क्या जगत् सम्पूर्ण ब्रह्म का यथार्थ रूपान्तरण है या उसके किसी अंश विशेष का रूपान्तरण है? यदि सम्पूर्ण ब्रह्म में यथार्थ परिवर्तन को स्वीकार करें तो उसकी अतीन्द्रिय एवं निरपेक्ष सत्ता बाधित होती है, और यदि उसके किसी अंश विशेष में परिवर्तन स्वीकार करें तो उसकी अखण्डता को क्षति पहुँचती है। ऐसी स्थिति में ब्रह्म को सावयव होकर अनित्य होना पड़ेगा। इस प्रकार जगत् की व्याख्या के लिए ब्रह्म परिणामवाद को युक्तिसंगत नहीं माना जा सकता। उनका यह स्पष्ट अभिमत है कि केवल विवर्तवाद द्वारा ही जगत की युक्तिसंगत व्याख्या संभव है। शंकराचार्य के परवर्ती अद्वैत वेदान्ती दार्शनिक सर्वज्ञात्ममुनि ने संक्षेपशरीरक में विवर्तवाद को परिणामवाद का ही तार्किक विकास माना है। वास्तविकता यह है कि शंकराचार्य ने अपने पूर्ववर्ती अद्वैत वेदान्ती गौडपादाचार्य के अजातिवाद सिद्धांत को

ही तर्कतः विकसित करके उसे विवर्तवाद से परिणत कर दिया और इस तथ्य को स्थापित किया कि जगत न उत्पन्न होता है और न विकसित होता है, अपितु केवल प्रतीत होता है। जिस प्रकार रस्सी सर्प के रूप में प्रतीत होती है, उसी प्रकार ब्रह्म जगत के रूप में प्रतीत होता है।

2.8 जगत

शंकराचार्य के द्वारा सत् एवं असत् की कसौटी पर परीक्षण के पश्चात् जगत् को मिथ्या सिद्ध किया गया है। अद्वैत वेदान्ती शंकराचार्य की दृष्टि में जो कुछ ज्ञान का विषय है, वह अनित्य होने के कारण नाशवान् है और उसे सत् नहीं कहा जा सकता है। पुनः सत् उसे कहा जा सकता है जो सभी प्रकार के विरोधों से रहित हो। शंकराचार्य ने सत् को त्रिकालबाधित माना है, अर्थात् सत् तीनों कालों में (भूत, वर्तमान एवं भविष्य) में अबाधित सत्ता होती है। सत् वह है जो अतीत में था और वर्तमान में भी है और भविष्य में भी रहेगा। असत् वह है जिसका तीनों कालों में अभाव है अर्थात् जो न तो कभी था, न है और न कभी होगा, जैसे बन्ध्यापुत्र, शशश्रृंग, आकाशकुसुम आदि। शंकराचार्य ने सत् और असत् के इस कसौटी के आधार पर यह सिद्ध किया है कि जगत् मिथ्या है। जगत सत् नहीं है, क्योंकि वह ज्ञान का विषय होने के कारण अन्य लौकिक वस्तुओं की भाँति अनित्य होने के कारण नाशवान है। यह जगत अन्तर्विरोधों से परिपूर्ण होने के कारण भी सत् नहीं है। जगत् की सर्वकालिक सत्ता न होने के कारण भी उसे सत् नहीं माना जा सकता है। अतएव जगत् की सत्ता प्रतीति पर्यन्त ही रहती है, कालान्तर में यह ब्रह्म ज्ञान से बाधित हो जाती है। अतएव इस कारण से भी जगत् को मिथ्या कहा जाता है। पुनः जगत शशश्रृंग, आकाश कुसुम बन्ध्यापुत्र के समान असत् भी नहीं है, क्योंकि जगत को लोक व्यवहार में अनुभव होता है। इसलिए प्रपंचात्मक जगत् सदसद्विलक्षण होने के करण भी मिथ्या है।

2.9 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में अभासिक सत्ता में भी दो रूप माने गये हैं– प्रतिभास और व्यवहार

शंकराचार्य के अनुसार प्रतिभास व्यक्तिगत स्तर का भ्रम है। इसके अन्तर्गत स्वप्न, रज्जु–सर्प, शुक्ति–रजत इत्यादि भ्रम की स्थितियों की गणना की जा सकती है, जिसका अनुभव व्यक्ति विशेष को होता है; जैसे स्वप्न जाग्रत अवस्था में बाधित हो जाता है और अधिष्ठान के ज्ञान से अन्य भ्रम बाधित हो जाते हैं, वैसे ही प्रतीति पर्यन्त ही प्रतिभास सत् होता है और बाद में वह बाधित हो जाता है। पुनः शंकराचार्य का यह मानना है कि सम्पूर्ण लोक व्यवहार भी सत्य और असत्य का मिश्रित रूप होने के कारण असाधारण प्रकार का है। यह समष्टिगत भ्रम है, जिसका अनुभव सबको होता है। इसके अन्तर्गत सम्पूर्ण प्रपंचात्मक जगत एवं लोक व्यवहार आता है। शंकराचार्य के अनुसार प्रतिभास व्यवहार से बाधित होता है और व्यवहार पारमार्थिक ज्ञान से बाधित होता है। अतएव शंकराचार्य यह प्रतिपादित करते हैं कि यह प्रपंचात्मक जगत् व्यावहारिक रूप में तब तक सत्य है, जब तक ब्रह्मानुभूति नहीं होती है। जब ब्रह्मज्ञान हो जाता है, तब जगत पारमार्थिक दृष्टि सत्य नहीं रह जाता है और इस प्रकार जगन्मिथ्या लगने लगता है।

2.10 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में सत्ता के तीन रूप माने गये हैं– पारमार्थिक, व्यावहारिक और प्रातिभासिक

शंकराचार्य पारमार्थिक रूप में ब्रह्म के सत् होने का प्रतिपादन करते हैं, क्योंकि उनकी यह स्पष्ट मान्यता है कि सत् वही हो सकता है जो अपरिवर्तनशील हो और जिसकी सत्ता त्रिकालाबाधित हो। इस दृष्टि से ब्रह्म ही एक मात्र ऐसी सत्ता है जो सभी प्रतीतियों में विद्यमान होते हुए भी अपरिवर्तनशील और त्रिकालाबाधित है। अतएव शंकराचार्य ने पारमार्थिक रूप में ब्रह्म को ही एक मात्र पारमार्थिक रूप में सत् माना है। शंकराचार्य ने उन वस्तुओं की सत्ता को प्रातिभासिक माना है जो कुछ समय के लिए सत् के रूप में दिखायी पड़ती है, किन्तु वह जैसी दिखायी पड़ती है, उसका निरास या बाध अन्य ज्ञान से हो जाता है, स्वप्न पदार्थ और भ्रम की वस्तुएं जैसे रज्जु–सर्प, शुक्ति रजत् आदि इसी कोटि में आते हैं। स्वप्न–पदार्थ, जाग्रतावस्था से बाधित हो जाते हैं और भ्रम की वस्तुओं का निरास भी अधिष्ठान के वस्तु के ज्ञान से हो जाता है। शंकराचार्य के अनुसार उन वस्तुओं की सत्ता व्यावहारिक है जो स्वाभाविक जाग्रतावस्था में दिखाई पड़ते हैं और लोक में सभी के अनुभव के विषय बनते हैं। परन्तु भविष्य में तर्कतः उनके भी बाधित होने की संभावना रहती है, जिसके कारण उन्हें भी पूर्णतया सत् नहीं कहा जा सकता। शंकराचार्य ने सम्पूर्ण लोक व्यवहार को इसी कोटि में रखा है और यह माना है कि सम्पूर्ण प्रपंचात्मक जगत लोकव्यवहार के अन्तर्गत आने के कारण ब्रह्म ज्ञान से बाधित हो जाता है। अतएव शंकराचार्य यह दिखाते हैं कि प्रपंचात्मक रूप में व्यावहारिक जगत की सत्ता प्रतिभासिक जगत् से अधिक यथार्थ है, किन्तु पारमार्थिक सत्ता (ब्रह्म) की अपेक्षा कम यथार्थ है। इस प्रकार शंकराचार्य पारमार्थिक रूप में जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन करते हैं, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से जगत को सत् मानते हैं।

अद्वैत वेदान्त के भाष्यकार स्वामी विद्यारण्य ने 'पंचदशी' में यह प्रतिपादित किया है कि जगत–व्यावहारिक दृष्टि से भले ही सत् हो, किन्तु पारमार्थिक दृष्टि से असत् और तुच्छ है। वास्तविकता यह है कि जगत् तार्किक दृष्टि से अनिर्वचनीय है, क्योंकि यह सत् और असत् दोनों से विलक्षण है।

2.11 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त के जगत–विचार का अन्य भारतीय दर्शन के जगत्–विचार से तुलनात्मक निरूपण

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त के जगत मिथ्यात्व की स्थापना के विपरीत अनेक भारतीय दर्शनों में जगत की सत्यता को स्वीकार किया गया है। सर्वास्तिवादी बौद्ध मत, अनेकान्तवादी जैनमत, द्वैतवादी सांख्य–योग मत, परमाणुवादी न्याय–वैशेषिक मत और कर्मकाण्ड मूलक मीमांसा में जगत की नित्य सत्ता को मान्यता प्रदान की गयी है। शंकराचार्य जगत की नित्यता को अस्वीकार करते हैं, क्योंकि उनका यह मानना है कि यदि जगत की नित्य सत्ता को मान लिया जाएँ तो ब्रह्म ज्ञान से वह निरासित नहीं होगा। पुनः यदि यह मान लिया जाएँ कि जगत नित्य है, तो मोक्ष असंभव हो जाएगा और मानव जीवन का मुख्या प्रयोग ही असफल हो जाएगा। जहाँ तक बौद्ध विज्ञानवाद और शून्यवाद के जगत विषयक दृष्टिकोण की बात है तो ये दोनों ही जगत की सत्ता का निषेध करते हैं। विज्ञानवाद विज्ञप्तिमात्रता को ही एकमात्र निरपेक्ष सत् मानकर बाह्य जगत को असत् सिद्ध किया गया है। शून्यवाद भी अजातिवादी दृष्टि का ही प्रतिपादन करते

हुए पारमार्थिक दृष्टि से जगत् की असत्यता का प्रतिपादन करता है, क्योंकि शून्यवाद पारमार्थिक दृष्टि से तत्वतः शून्य को सत् मानता है और इसे बुद्धि की चार कोटियों से विनिर्मुक्त मानता है। शून्यवाद यह मानता है कि जो बुद्धि की कोटियों के अन्तर्गत आता है वह लोक व्यवहार का विषय है, इसलिए इसे पारमार्थिक दृष्टि से सही नहीं कहा जा सकता है। शंकराचार्य बौद्ध दर्शन के विज्ञानवाद और शून्यवाद दोनों ही विचारधाराओं के दृष्टिकोणों का खण्डन करते हैं। उनका कहना है कि विज्ञानवाद और शून्यवाद दोनों ही विचारधारायें लौकिक अनुभव के साथ न्याय नहीं करती। वे कहते हैं कि 'नाभावोऽपलब्धेः' अर्थात् जो असत् है अभाव रूप है, वह कभी भी अनुभव में नहीं आ सकता। हम घट–पट आदि जिन वस्तुओं का अनुभव करते हैं, उनके अभाव को कैसे अस्वीकार कर सकते हैं? इसीलिए शंकराचार्य यह कहते हैं कि तात्विक दृष्टि से जगत् ही असत् है किन्तु उसके व्यावहारिक सत्यता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

शंकराचार्य अपने अद्वैतवाद की स्थापना के लिए पारमार्थिक रूप से एकमात्र ब्रह्म के सत्यता का प्रतिपादन करते हैं और जगत् को मिथ्या सिद्ध करते हैं। परन्तु आलोचकों ने शंकराचार्य के जगत् मिथ्यात्व विचार के विरुद्ध गम्भीर आपत्तियाँ उठायी है। आलोचकों ने निम्नलिखित आक्षेपों के आधार पर शंकराचार्य के जगत विषयक दृष्टिकोण को अस्वीकार किया है –

(1) अद्वैत वेदान्त से इतर वेदान्तियों का यह मानना है कि शंकर का जगत् विचार श्रुति सम्मत नहीं है। विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज ने कहा है कि मायावाद शंकर के मस्तिष्क की कल्पना है और उसे उपनिषद्ों के द्वारा समर्थनीय नहीं माना जा सकता है। वास्तविकता यह है कि शंकर अपने मायावाद के विचार के लिए बौद्धों के ऋणी हैं, इसलिए शंकर प्रच्छन्न बौद्ध हैं।

परन्तु शंकराचार्य पर लगाए गए उपर्युक्त आरोप निराधार हैं वास्तविकता यह है कि शंकराचार्य का मायावाद न तो उपनिषद् बाह्य है और न ही शंकराचार्य प्रच्छन्न बौद्ध हैं। प्रो0 रानाडे जैसे अद्वैत वेदान्तियों ने शंकराचार्य के मायावाद का मूल उपनिषद्ों में सिद्ध किया है। 'माया' या 'अविद्या' सम्बन्धी स्थल श्रुतियों में भरे पड़े हैं, शंकराचार्य ने उनका तार्किक विकास करके एक सुव्यवस्थित विचारधारा का रूप प्रदान किया है।

(2) शंकराचार्य के जगत् मिथ्यात्व के सम्बन्ध में यह भी आपत्ति उठायी जाती है कि शंकराचार्य जगत का उत्पादन नहीं करते, बल्कि उसकी समस्या को ही उड़ा देते हैं। दर्शन का कार्य जगत् को कारण बताना है। यदि वह जगत की सत्ता को ही मानते तो वह किस आधार पर स्थित होगा? परन्तु इस तरह की आलोचना बहुत ही सतही है, क्योंकि यह सत्य है कि दर्शन का काम जगत का कारण बताना है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि दर्शनशास्त्र शुरू से ही इस बात को स्वीकार कर ले कि सामान्यतः जो जगत् देखने में आता है, वह पूर्णतः सत्य है। शंकराचार्य ने सत्ता के तीन स्तरों के विवेचन द्वारा व्यावहारिक जगत् को प्रतिभासिक की अपेक्षा सत् तथा पारमार्थिक दृष्टि से ही असत् माना है।

(3) कुछ आलोचकों का यह कहना है कि यदि यह मान लिया जाएँ कि जगत असत् है तो शंकर का जगत विषयक दृष्टिकोण नैतिक जीवन के लिए कोई प्रेरणा नहीं देता। इसमें नैतिक जीवन के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता है। परन्तु शंकराचार्य के जगत विषयक विचार के सम्बन्ध में यह आरोप भी निराधार है क्योंकि शंकर स्वयं पूर्व पक्ष के रूप में इस आरोप का उत्तर दिया है। शंकर के जगत विषयक विचार से यह स्पष्ट है कि शंकर जगत को असत् न कहकर मिथ्या

कहते हैं और मिथ्या असत् से भिन्न है। उन्होंने जगत को असत्–दिखाने के कारण ही बौद्ध विज्ञानवाद का खण्डन किया है और शून्यवाद को महत्वहीन घोषित किया है। शंकराचार्य व्यावहारिक रूप में प्रपंचात्मक जगत् के सत्यता की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। वे प्रतिभास तक को उसके स्तर पर सत्य मानते हैं, जिसे यथार्थवादी असत् मानता है। उनका यह स्पष्ट रूप से कहना है कि ब्रह्म ज्ञान के पूर्व जगत् उतना ही सत्य है जितना कि जाग्रत अवस्था के पूर्व स्वप्न सत्य होता है इस प्रकार शंकराचार्य ने जगत् मिथ्यात्व का प्रतिपादन करके जगत की व्यावहारिक सत्यता को भी मान्यता प्रदान की है। वास्तविकता यह है कि नैतिक जीवन और नैतिकता व्यावहारिक जीवन से सम्बन्धित है, इसलिए उनके दर्शन में नैतिकता के लिए पर्याप्त स्थान है।

2.12 निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि शंकराचार्य ने सम्पूर्ण प्रपंचात्मक जगत् को सदद्विलक्षण होने के कारण मिथ्या माना है। उनका यह मानना है कि समस्त प्रपंचात्मक जगत् ज्ञेय, दृश्य और परिच्छिन्न होने के कारण मिथ्या है। शंकराचार्य ने सम्पूर्ण लोक व्यवहार को समष्टिगत स्तर का भ्रम माना है, जिसका बाध आत्मज्ञान से होता है। उन्होंने 'प्रतिभास' और व्यवहार में भेद कर जगत के व्यावहारिक सत्यता और उसके सापेक्ष सत्यता का प्रतिपादन किया है। उनका यह स्पष्ट अभिमत है कि जब तक ब्रह्म ज्ञान नहीं होता है, तब तक जगत् व्यावहारिक दृष्टि से सत्य है और वे इस व्यावहारिक जगत् की सत्यता की अक्षुण्णता का बार–बार तथा साग्रह प्रतिपादन करते हैं।

प्रश्नावली

लघु उत्तरीय प्रश्न–

1. शंकराचार्य के अनुसार अध्यास का प्रथम लक्षण क्या है?
2. जगत सिद्धांत की व्याख्या करें।
3. वेदान्त में जगन्मिथ्यात्व का अर्थ स्पष्ट करें।
4. अद्वैत वेदान्त ने सत्ता के कितने रूप माने हैं स्पष्ट करें।
5. ब्रहम के परिणामवाद का खण्डन करें।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न–

1. अद्वैत वेदान्त के जगत मिथ्यात्व पर एक निबन्ध लिखिए।
2. शंकराचार्य के जगत विचार का अन्य भारतीय दर्शन के जगत विचार से तुलना कीजिए।

****

इकाई–3

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में अनुभव, तर्क एवं श्रुति का स्थान

संरचना

3.1. **उद्देश्य**

3.1 **प्रस्तावना**

3.2 **शंकराचार्य के अनुसार लौकिक ज्ञान और तत्व ज्ञान में भेद**

3.3 **शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में अनुभव, तर्क एवं श्रुति का स्थान**

- **3.3.1** अनुभव
- **3.3.2** शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में 'अनुभव' का तात्पर्य

3.5 **शंकराचार्य के अनुसार तर्क की भूमिका**

3.6 **तार्किक ज्ञान की अपूर्णता**

3.7 **शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में श्रुति का स्थान**

3.8 **शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में श्रुति प्रमाण के प्रमुख विशेषताएँ**

3.9 **निष्कर्ष**

3.1. उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में शंकराचार्य के प्रमाणों से सम्बन्धित उस विचार का निरूपण किया गया है, जिसमें शंकराचार्य अनुभव तर्क एवं श्रुति प्रमाणों के गति के विषय में अपने मत को व्यक्त किए हैं। उनका यह मानना है कि प्रमाणों और शास्त्रों के विषय अविद्याजन्य है। प्रमाणों की गति वहीं तक होती है, जहाँ तक प्रमाता और प्रमेंयों की सत्ता होती है। यद्यपि शंकराचार्य अपने अद्वैत वेदान्त में अनुभव, तर्क और श्रुति तीनों को स्थान देते हैं, किन्तु उनका यह मानना है कि केवल श्रुति द्वारा ही ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति की जा सकती है।

3.1 प्रस्तावना

शंकराचार्य ने अपने अद्वैत वेदान्त में प्रमाता–प्रमेंय भेद को अविद्याजन्य माना है, क्योंकि उनका यह मानना है कि गति वहीं तक होती हैं जहाँ प्रमाता एवं प्रमेंयों की सत्ता होती है। यद्यपि शंकराचार्य अपने अद्वैत वेदान्त में अनुभव, तर्क एवं श्रुति तीनों को देते हैं, किन्तु उनकी दृष्टि से श्रुति का विशेष महत्व है। वास्तविकता यह है कि शंकराचार्य ने 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग एक विशिष्ट अर्थ में किया है, जो 'ज्ञान' के सामान्य अर्थ से सर्वथा भिन्न है। साधारण ज्ञान के अन्तर्गत

सभी प्रमाणजन्य ज्ञान आ जाते हैं और यह ज्ञान ज्ञाता–ज्ञेय–ज्ञान के भेद पर आधारित ज्ञान होने के कारण अविद्याजन्य है, किन्तु ब्रह्म ज्ञान सभी प्रकार के भेदों से रहित है। यद्यपि यह सही है कि साधारण ज्ञान हमें ब्रह्म ज्ञान की ओर अग्रसर करता है, किन्तु इसके, द्वारा ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति संभव नहीं है, क्योंकि जो अविद्याजन्य होगा, वह सत् ब्रह्म की अनुभूति नहीं करा सकता है। इसीलिए शंकराचार्य ने प्रमाणों पर आधारित ज्ञान को लौकिक जगत् तक ही सीमित मानकर उसे ब्रह्म ज्ञान के लिए अपर्याप्त माना है। इसीलिए उन्होंने श्रुति प्रमाण को ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति में सहायक मानते हुए उसे विशेष स्थान दिया है। उन्होंने 'शारीरकभाष्य' में यह कहा है कि –

''प्रत्यक्षं श्रुतिः प्रामाण्यं प्रत्यनपेक्षत्वात् अनुमानं स्मृतिः प्रतिसापेक्षत्वात्'' अर्थात् ''नैयायिकों के लिए जो प्रत्यक्ष है, वही उनके लिए श्रुति है तथा नैयायिकों के लिए जो अनुमान का महत्व है, वही उनके स्मृति का महत्व है।'' इस प्रकार शंकराचार्य को स्पष्ट अभिमत है कि यदि प्रमाणों का सदुपयोग किया जाएँ तो उनसे ब्रह्म साक्षात्कार की प्रेरणा अवश्य मिल सकती है। किन्तु यह केवल साधन मूल्य के रूप में महत्व रखता है, साध्य–मूल्य के रूप में इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

3.2 शंकराचार्य के अनुसार लौकिक ज्ञान और तत्व ज्ञान में भेद

शंकराचार्य के अनुसार साधारण लौकिक ज्ञान तात्विक ज्ञान न होकर एक प्रकार का कर्म ही है, क्योंकि वहाँ 'विदि–क्रिया' होती है। शंकराचार्य के अनुसार 'ज्ञान' और 'कर्म' में आत्यन्तिक विरोध होता है। ज्ञान और कर्म में प्रकाश और अन्धकार का विरोध है। वस्तुतः शंकराचार्य के अनुसार ज्ञान से तात्पर्य तात्विक ज्ञान या अपरोक्षानुभूति है तथा कर्म का अर्थ काम्य और निषिद्ध कर्मों से है। उनके अनुसार साधारण ज्ञान और कर्म, दोनों ही कर्म हैं। साधारण ज्ञान और कर्म के बीच कोई विरोध नहीं है। वास्तविक विरोध तो अपरोक्षानुभूति रूप ज्ञान और काम्य या निषिद्ध कर्मों के बीच है। शंकराचार्य इस प्रश्न पर प्रमुख रूप से विचार करते हैं कि ज्ञान और कर्म में क्यों इतना विरोध है? इस प्रश्न के सम्बन्ध में वे कहते हैं कि ब्रह्म साक्षात्कार कर्म द्वारा न होकर केवल ज्ञान द्वारा ही हो सकता है। शंकराचार्य यह भी कहते हैं कि धर्म जिज्ञासा और ब्रह्म जिज्ञासा के फल में महान अन्तर है। धर्म ज्ञान का फल अभ्युदय होता है तथा उसके लिए अनुष्ठान की अपेक्षा होती है, किन्तु ब्रह्म ज्ञान का फल निःश्रेयस की प्राप्ति होती है तथा उसके लिए किसी अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं होती। इसी प्रकार धर्म जिज्ञासा और ब्रह्म जिज्ञासा के विषयों में भी महान अन्तर होता है। धर्म जिज्ञासा का विषय भव्य होता है तथा ज्ञान के समय उसका अस्तित्व नहीं होता, क्योंकि वह पुरुषतंत्र होता है। परन्तु ब्रह्म जिज्ञासा का विषय नित्य होता है, क्योंकि उसे पुरुष व्यापार की तनिक भी आवश्यकता नहीं होती। शंकराचार्य का यह मानना है कि ब्रह्म एक परिनिष्ठित वस्तु है, उसके लिए किसी कर्म की आवश्यकता नहीं है। इसके अतिरिक्त वैदिक या लौकिक कर्म किये जा सकते हैं, नहीं भी किए जा सकते या पुरुष तंत्र होते हैं, किन्तु वस्तु का यथार्थज्ञान पुरुषतंत्र न होकर वस्तुतंत्र ही होता है और इसमें बुद्धि–विकल्प का कोई हाथ नहीं है। उनका यह स्पष्ट अभिमत है कि यथार्थ ज्ञान प्रमाणों द्वारा उत्पन्न होता है और वह वस्तुओं के स्वभाव के अनुसार होता है। सैकड़ों विधियों के द्वारा न तो इसे उत्पन्न किया जा सकता है और न ही सैकड़ों

निषेध के द्वारा इसका निवारण ही किया जा सकता है। ज्ञान कोई मानसिक क्रिया नहीं है। यह मन पर आधारित न होकर वस्तु जगत पर निर्भर है।

शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म कर्म से इतना असंबद्ध है कि वह 'विदि–क्रिया' का भी कर्म नहीं है, क्योंकि यह ज्ञात और अज्ञात दोनों से भिन्न है। ब्रह्म 'विदि–क्रिया' का कर्म इसलिए भी नहीं है क्योंकि ब्रह्म सभी प्रकार के ज्ञानों का अधिष्ठान है। उसे सामान्य ज्ञान द्वारा नहीं जाना जा सकता। इसीलिए शंकराचार्य कहते हैं कि –''विदिक्रियाकर्मत्व प्रतिषेधात् येनेदं सर्वविजानाति तं केन विजानीयात्।' अर्थात् ब्रह्म 'विदि–क्रिया' का कर्म नहीं है, क्योंकि जिसके द्वारा सब जाने जाते हैं उसे कैसे जाना जा सकता है। शंकराचार्य के अनुसार वस्तुतः ब्रह्म 'उपस्ति–क्रिया' का भी कर्म नहीं है, क्योंकि यह मन और वाणी का विषय नहीं है, क्योंकि 'यद्वाचानभ्युदितं येन् वागभ्युद्यते' अर्थात् वाणी स्वयं ब्रह्म द्वारा प्रेरित होती है इसी प्रकार ब्रह्म न उत्पाद्य है, न विकार्य है, न प्राप्य है और न संस्कार ही है। ब्रह्म भाव या मोक्ष 'घट' के समान उत्पाद्य नहीं है, क्योंकि वह नित्य है। इसी प्रकार 'ओदन' के समान ब्रह्मभाव विकार्य नहीं है, क्योंकि विकार मानने से वह अनित्य जो जाएगा। 'ग्रामं गच्छति' के समान ब्रह्मभाव प्राप्य भी नहीं है, क्योंकि वह नित्य प्राप्त आत्मा का स्वरूप ही है। मोक्ष संस्कार्य कर्म भी नहीं है, क्योंकि संस्कार्य पदार्थ में संस्कार दो प्रकार का होता है, एक गुणाधान रूप संस्कार और दूसरा दोषापनयन संस्कार। ब्रह्म में गुणधान रूप संस्कार इसलिए संभव नहीं है, क्योंकि ब्रह्म अनाधेयातिशय ब्रह्म स्वरूप है तथा ब्रह्म में दोषापनयन संस्कार भी नहीं हो सकता, क्योंकि मोक्ष नित्य शुद्ध रूप है।

3.3 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में अनुभव, तर्क एवं श्रुति का स्थान

3.3.1 अनुभव

शंकराचार्य अपने अद्वैत वेदान्त में अनुभव, तर्क एवं श्रुति अनुभव को समुचित स्थान दिया है। शंकराचार्य का दर्शन अनुभव के विपरीत नहीं है। उनका सम्पूर्ण दर्शन जीवन के अनुभवों पर आधारित है। शंकराचार्य 'शारीरकभाष्य' में 'अध्यास' को परिभाषित करते हुए 'लोकानुभव' की ओर संकेत करते हैं। शंकराचार्य लौकिक अनुभव के विषय में वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि साधारण जीवन का यह अनुभव है कि शुक्ति चाँदी के समान दिखायी पड़ती है तथा एक चन्द्रमा दूसरे चन्द्रमा के साथ दिखायी पड़ता है। इसलिए शंकर का यह स्पष्ट मत है कि 'दृष्टाच्चादृष्टसिद्धि' अर्थात् दृष्ट के आधार पर ही अदृष्ट की व्याख्या की जा सकती है। शंकराचार्य का यह कहना है कि किसी दृष्ट वस्तु में अविश्वास प्रकट करना मूर्खता है। उनका यह कहना है कि 'नहिदृष्टाऽनुपन्नं नाम' अर्थात दृष्ट वस्तु कभी भी अनुपपन्न नहीं होती है। यदि कोई कल्पना ऐसी है जो दृष्ट वस्तु के विपरीत है तो उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि शंकराचार्य ने लौकिक अनुभवों की कभी भी उपेक्षा नहीं की है, क्योंकि उनका सम्पूर्ण दर्शन जीवन के समान्य अनुभवों पर आधारित है।

3.3.2 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में 'अनुभव' का तात्पर्य

शंकराचार्य द्वारा जगन्मिथ्या की उद्घोषण के कारण उनके अद्वैत वेदान्त में 'अनुभव' से क्या तात्पर्य है? यह एक प्रमुख रूप से विचारणीय प्रश्न है। शंकराचार्य द्वार व्यहृत 'अनुभव' शब्द के विषय में शंकराचार्य का तात्पर्य लौकिक प्रत्यक्ष से है

अथवा उसके अन्तर्गत अलौकिक प्रत्यक्ष को भी शामिल किया जा सकता है? उपर्युक्त प्रश्नों के सम्बन्ध में शंकराचार्य का यह कहना है कि लौकिक प्रत्यक्ष और अलौकिक प्रत्यक्ष के बीच किसी प्रकार का विरोध नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों के क्षेत्र पृथक्–पृथक् हैं। प्रत्येक अपने–अपने क्षेत्र में उच्चतम् स्थान है। सैकड़ों श्रुतियाँ भी अपने पदार्थों को भिन्न–भिन्न स्थानों और कालों में अपने स्वभाव को त्याग करने के लिए विवश नहीं कर सकती है उन्हें प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है। आगे यह कहते हैं कि 'तर्कस्तु अनवस्थितो भ्रान्तोपिभवति' अर्थात् विशुद्ध तर्क अनवस्थित होता है तथा वह भ्रान्ति को भी उत्पन्न करता है। तर्क क्यों अनवस्थित होता है विशुद्ध तर्क अनवस्थित होता है तथा वह भ्रान्ति को भी उत्पन्न करता है। तर्क क्यों अनवस्थित होता है इस विषय में शंकर अपने विचार को व्यक्त करते हुए यह कहते हैं कि यथार्थ ज्ञान के सम्बन्ध में मत वैभिन्य के लिए कोई अवकाश नहीं है, किन्तु यह सर्वविदित है कि तर्क पर आधारित ज्ञान परस्पर विरोधी होते हैं। यदि एक तर्कनिष्ठ किसी ज्ञान को सम्यक ज्ञान कहता है तो दूसरा तर्कनिष्ठ उसी ज्ञान को असिद्ध घोषित कर देता है। संसार भूत, वर्तमान एवं भविष्य के सभी तर्कवादियों को एक काल में और एक स्थान पर एकत्रित कर किसी वस्तु के विषय में एक निश्चित मत प्राप्त कर सम्यक् ज्ञान को स्थापित करना असम्भव कार्य है। अतः तर्क द्वारा प्राप्त ज्ञान कभी भी यथार्थ नहीं हो सकता। इन सब कारणों से शंकराचार्य इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ब्रह्म को हम केवल श्रुतियों द्वारा ही जान सकते हैं।

3.5 शंकराचार्य के अनुसार तर्क की भूमिका

शंकराचार्य ने अनेक स्थानों में तर्क भूमिका के विषय में अपने स्पष्ट मत को व्यक्त किया है। एक स्थल पर वे कहते हैं कि तर्क कल्पना पर आधारित होता है। अतः वह अप्रतिषिद्ध और निरंकुश होता है। अन्य स्थल पर वे कहते हैं कि तर्क अप्रतिष्ठित होता है यह कथन स्वयं तर्क पर आधरित है। ऐसी स्थिति में यदि सभी तर्क को अप्रतिष्ठित मान लिया जाएँ, तो लोक व्यवहार असंभव हो जाएगा। कठोपनिषद् भाष्य में शंकराचार्य कहते हैं कि सत् और असत् के वास्तविक स्वभाव के विषय में बुद्धि ही एकमात्र प्रमाण है।

अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि शंकर के इन परस्पर विरोधी कथनों के बीच किस प्रकार समन्वय स्थापित किया जा सकता है? इसका कारण यह है कि एक स्थल पर वे तर्क की निन्दा करते हैं, तो दूसरे स्थल पर तर्क की भूमिका व महत्ता का प्रतिपादन करते हैं? शारीरक भाष्य में एक स्थान पर वे कहते हैं कि तर्क दृष्टसाम्य के आधार पर अदृष्ट के विषय में विधान करते हैं, जिसके कारण वे श्रुति की अपेक्षा तर्क के अधिक निकट हैं क्योंकि श्रुति की प्रामाणिकता परम्परागत मात्र होती है। एक अन्य स्थान पर वे कहते हैं कि 'दृष्टाच्चादृष्टसिद्धिः' अर्थात् दृष्ट के आधार पर ही अदृष्ट का निर्धारण किया जा सकता है। इन सभी उद्धरणों से स्पष्ट है कि शंकराचार्य न केवल प्रागनुभविक तर्क की ही निन्दा की है तथा वह तर्क जो अनुभव और तर्क पर आधारित है, उसकी प्रशंसा की है। यह उनके इस कथन से स्पष्ट होता है, जब वे कहते हैं कि–'केवल वही तर्क स्वीकार्य हो सकता है, जो श्रुति सम्भव हो तथा अनुभव के द्वारा जिसकी पुष्टि संभव हो। पंचदशी में वे यहां तक कह देते हैं कि –''स्वानुभूति के अनुसार ही तर्क करना चाहिए व्यर्थ कुतर्क नहीं करना चाहिए।''

3.6 तार्किक ज्ञान की अपूर्णता

शंकराचार्य तार्किक ज्ञान की अपूर्णता को दर्शाते हुए यह कहते हैं कि तार्किक ज्ञान ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञात विषय के परस्पर भेद को प्रकट करता है, किन्तु यथार्थसत्ता इन सभी भेदों से मुक्त है। उनका यह मानना है कि तार्किक ज्ञान अविद्याजन्य है, क्योंकि यह वस्तुओं के सत्य स्वरूप का ज्ञान नहीं कराता। यथार्थ स्वरूप आत्मा जो विशुद्ध चैतन्य है, ज्ञान का विषय नहीं है। सत्य चैतन्य में विषयी को विषय से सर्वथा अन्य होना चाहिए और इस प्रकार विषयी ज्ञाता में और कुछ शेष नहीं रह जाता। मन की किसी अवस्था में भी विषयी अपने सन्मुख एक विषय के रूप में उपस्थित नहीं होती।

शंकराचार्य का यह मानना है कि चूँकि ज्ञान की प्रक्रिया केवल परम यथार्थसत्ता की अभिव्यक्ति मात्र है और कुछ नहीं, इसलिए यथार्थसत्ता को आत्मचैतन्य की प्रक्रिया के अन्दर ग्रहण करना असंभव है। उनका यह मानना है कि आत्मा काल एवं समस्त विषय समूह की आधारभूमि है, इसलिए इसे इसके द्वारा आविर्भूत जगत की सीमाओं में आबद्ध करना असंभव है। आत्मा के संबंध में आत्मचेतना केवल अन्तःकरण के उपाधि द्वारा ही संभव है। अन्तःकरण हमें अपनी चेतना को एक संकुचित परिधि के अन्दर ही एकाग्र करने में सहायता प्रदान करता है। इसलिए शंकराचार्य का यह स्पष्ट अभिमत है कि तर्कपूर्ण विचार कितना ही व्यापक क्यों न हो क्योंकि वह हमें यथार्थ सत्ता के बोधग्रहण की ओर ले नहीं जा सकता। शंकराचार्य का यह मानना है कि यह ठीक–ठीक जानना कठिन है कि ब्रह्म विषयक हमारा ज्ञान, जिसका अन्वेषण विज्ञान करता है, कहाँ तक वस्तुनिष्ठ है? इसलिए शंकराचार्य इस प्रश्न पर विचार करते हैं कि तार्किक ज्ञान की अवस्थाओं के अन्तर्गत जिस जगत का हमें ज्ञान है, वह अपने आप में कितना यथार्थ है? इस प्रश्न के सम्बन्ध में शंकराचार्य कहते हैं कि तार्किक ज्ञान के समस्त निर्णय मिथ्या हैं, इस अर्थ में कि कोई भी विधेय जिसका हम विषय के गुण के रूप में उपयोग कर सकते हैं, उसके लिए पर्याप्त नहीं है। यह यथार्थ के अन्दर किसी ऐसे गुणों का आधान करता है, जो इससे भिन्न है, जिसे शंकराचार्य 'अध्यास' के नाम से अभिहित करते हैं अर्थात् किस वस्तु को ऐसा मान लेना, जिससे वह भिन्न है।

शंकराचार्य का यह मानना है कि शान्त वस्तुओं का समस्त ज्ञान एक अर्थ में विशुद्ध सत् का अभाव है, क्योंकि एकमात्र नित्य चेतना के ऊपर पदार्थ रूप विषयों का अध्यास किया जाता है। यह अध्यास विषयी–विषय को एक साथ मिला देने के कारण उत्पन्न होता है, जिसके कारण हम क्रियाशीलता, कर्त्तृत्व तथा सुखोपभोग को उसी आत्मा का गुण समझ लेते हैं। यथार्थ में विषयी ज्ञाता से भिन्न कुछ नहीं है, क्योंकि यथार्थ सत्ता के विषयी (ज्ञाता) में वह सब कुछ समाविष्ट है, जो कुछ संभवतः उसके विषय में कह सकते हैं। विषयी ज्ञाता के विषय में हम उसके विषय में कह सकते हैं। विषयी ज्ञाता के विषय में हम जो कुछ भी कहते हैं, उस यथार्थसत्ता से बहुत न्यून है तथा उसका केवल आभासमात्र है। इसीलिए शंकराचार्य का कहना है कि विषयी तथा इसके गुणों का विषय के प्रति संक्रमण करना तार्किक दृष्टि से असत्य है, क्योंकि वह एक के सत् तथा गुणों का दूसरे में संक्रमण कर देते हैं। इसीलिए उनका यह मानना है कि ज्ञान के समस्त साधन तभी तक प्रामाणिक हैं, जब तक कि निरपेक्ष सत्य की प्राप्ति नहीं हो जाती है और इस प्रकार परिमित ज्ञान का सापेक्ष महत्व स्पष्ट रूप से अभिव्यंजित नहीं होता। वस्तुतः हमारा समस्त लोक व्यवहार का ज्ञान अज्ञान है और उस सबका निराकरण कर देने पर जिसे उसके ऊपर बलात आरोपित किया जाता है, निरपेक्ष चैतन्य का

ही ज्ञान बचता है। अतएव निरपेक्ष चैतन्य को निश्चयपूर्वक जान लेने का नाम ज्ञान है।

शंकराचार्य का यह मानना है कि आत्मा का सत्य ज्ञान किसी भी आकृति तथा वृत्ति से विहीन है। शंकराचार्य का यह मानना है कि अध्यास हमें एकमात्र निरपेक्ष यथार्थ सत्ता को विषय–विषयी सम्बन्ध के रूप में विभक्त करने के लिए प्रेरणा देता है, जो मानवीय मस्तिष्क की अपनी ही रचना का परिणाम है। शंकराचार्य इस प्रकार के मानवीय मस्तिष्क की रचना को अध्यास मानते हैं और कहते हैं कि अध्यास को जिसके कारण विषयी तथा विषय जगत की उत्पत्ति संभव है, अनादि, अनन्त, नैसर्गिक, मिथ्या प्रयत्नरूप तथा जीवात्माओं के कर्त्तृत्व, सुखोपभोग और क्रियाशीलता का कारण बताया गया है और यह सबके ऊपर आधिपत्य जमाए हुए है। इसीलिए शंकराचार्य का कहना है कि सार्वभौम यथार्थ सत्ता अपनी पूर्णता तथा जटिलता के कारण एक सार्वभौम तथा निर्दोष मस्तिष्क को स्वतः सिद्ध मान लेती है और वह ईश्वर है, जो विश्व के उन अंशों को भी धारण करता है जो हमारी दृष्टि से बाहर है और आप्राप्य है। हमारा सांसारिक अनुभव यह संकेत करता है कि एक ऐसा प्रकृत तत्व है जिसके लिए विचार की आवश्यकता है, किन्तु यह ऐसी वस्तु नहीं है जिसे आनुभविक प्रमाणों द्वारा जाना जा सके। मनुष्य होने के कारण हम मानवीय विधि से ही विचार करते हैं। सार्वभौम यथार्थ सत्ता को एक केन्द्रीय व्यक्तित्व अथवा विषयी के रूप में माना गया है तथा समस्त जगत् विषय रूप है। यह ऐसा संश्लेषण है जो तर्क के द्वारा प्राप्त होता है, किन्तु इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। यह विचार का तात्कालिक विषय नहीं हैं इसे हमारे अनुभव का सबसे उच्च श्रेणी का संश्लेषण मान लिया गया है और जब तक इसी प्रकार की रचना का अन्य अनुभव भी है, तब तक यह मान्यता बनी रहेगी।

शंकराचार्य का यह मानना है कि यथार्थसत्ता वह पूर्णरूप से निर्मित विचार है जिसके अन्दर प्रत्येक तत्व विषयी और विषय, मस्तिष्क और शरीर, वर्तमान, भूत और भविष्यत् इसके उचित स्थान पर आकर समाविष्ट हो गये हैं, मानवीय सत्ता अनुभव का विषय नहीं है, यद्यपि समस्त विचार मात्र का आदर्श लक्ष्य है परन्तु उनका यह मानना है कि समस्त ज्ञान चाहे ईश्वर का हो या मनुष्य का हो, अपने अन्दर विषयी–विषय का सम्बन्ध रखते हैं और इसलिए उसे सर्वोच्च नहीं माना जा सकता। समस्त सविकल्पक ज्ञान आत्मोत्सर्ग रूप है, क्योंकि इसमें परम यथार्थ सत्ता का एक विषयी के रूप में तथा वृत्ति और विषय के रूप में आदर्श रूप बन जाता है। इसलिए शंकराचार्च का मानना है कि तर्क का सम्बन्ध सान्त जीवन के स्तर तक ही है, क्योंकि परम यथार्थ सत्ता विचार से अतीत है। यथार्थ सत्ता अपने लिए सदा ही विद्यमान है और इसलिए उसे अपने में विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

शंकराचार्य का यह मानना है कि केवल तर्क एक औपचारिक प्रक्रिया है। तर्क जिन निर्णयों पर पहुँचता है वे उसके साध्य पक्ष पर निर्भर करते हैं जिनको लेकर यह आगे बढ़ता है और शंकर इस पर बल देते हैं कि धर्मशास्त्रों में वर्णित धर्मिक अनुभव को धर्म सम्बन्धी अनुभव के अन्तर्गत तर्क का आधार बनना चाहिए। तर्क से शंकर का तात्पर्य उस तर्क से है जिस पर इतिहास के उपदेशों ने कोई प्रतिबन्ध न लगाया हो। उनका यह स्पष्ट अभिमत है कि किसी भी प्रकार का व्यक्तिगत तर्क सत्य की स्थापना की ओर नहीं ले जा सकता, क्योंकि ज्ञान ग्रहण की शक्ति में अनेक प्रकार की विविधता रहती है। (कस्यचित् क्वचित पक्षपाते सति पुरुषभति वैरुप्येण तत्त्वाव्यवस्था न प्रसंगात्)।

शंकराचार्य धर्मशास्त्र के विचारों की तर्क द्वारा परीक्षा की आवश्यकता को स्वीकार करते हैं। जहाँ कहीं उन्हें अवसर मिला, उन्होंने धर्मशास्त्र के कथनों की तर्कबुद्धि की युक्तियों द्वारा समर्थन करने का प्रयत्न किया है। शंकराचार्य का यह स्पष्ट रूप से कहना है कि ऐसा तर्क जो अनुभव का सहायक होकर कार्य करता है वह युक्तिसंगत मत है। वास्तविकता यह है कि शंकराचार्य के लिए तर्क एक समीक्षात्मक शास्त्र है, जिसका प्रयोग अपरीक्षित धारणाओं के विरुद्ध किया जाता है और तर्क एक रचनात्मक तत्व भी है जो सत्य सम्बन्धी तथ्यों का चुनाव करता है तथा उनके ऊपर बल देता है। ऐसे व्यक्ति भी जिनमें निर्णय करने की शक्ति है, बिना किसी तर्क के किसी विशेष परम्परा का आश्रय नहीं लेते।

3.7 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में श्रुति का स्थान

शंकराचार्य अनुभव एवं तर्क के महत्व को बताने के लिए तथा उसमें निहित कमियों को उद्घाटित करने के पश्चात् अपने दृष्टिकोण को और स्पष्ट करते हुए यह कहते हैं कि ब्रह्म का ज्ञान न तो प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा हो सकता है, न अनुमान द्वारा और न तर्क द्वारा ही उसे जाना जा सकता है। शंकराचार्य के अनुसार साधारण जनों के लिए ब्रह्म को जानने का एकमात्र साधन श्रुति प्रमाण है। शंकराचार्य इसके लिए कुछ प्रमाण देते हुए कहते हैं कि 'रूपाद्यभावाद्धि नायमर्थः प्रत्यक्षगोचरः' अर्थात् रूपादि के भाव के अभाव के कारण ब्रह्म प्रत्यक्ष का विषय नहीं है तथा 'लिंगाद्यभावाच्च नानुमादीनाम्' अर्थात् लिंगादि के अभाव के कारण ब्रह्म अनुमान का भी विषय नहीं है। इन सब कारणों से शंकराचार्य इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ब्रह्म को हम केवल श्रुतियों के द्वारा ही जान सकते हैं।

3.8 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में श्रुति प्रमाण के प्रमुख विशेषताएँ

शंकराचार्य अपने अद्वैत वेदान्त में 'श्रुति' प्रमाण को स्वतंत्र रूप में ज्ञान का साधन मानते हैं। उनका यह कहना है कि 'यस्य वाक्यस्य तात्पर्यविषयीभूत संसर्गो मनान्तरेण न बाध्यते तद् वाक्यं प्रमाणम्' अर्थात् कोई भी कथन उनके द्वारा उपलक्षित अर्थों में निर्दोष प्रमाण है, यदि किसी अन्य प्रमाण द्वारा निर्दोष न सिद्ध कर दिया जाएँ। शंकराचार्य के अनुसार वेद नित्य है और सृष्टि के समस्त जीवों के लिए त्रिकालाबाधित नियमों के भण्डार हैं। वेद अपौरुषेय है और वे ईश्वर के विचारों को प्रकट करते हैं अद्वैतवादी यह स्वीकार करता है कि वेद अक्षरों, शब्दों तथा वाक्यों के संग्रह हैं और उनके अस्तित्व का प्रारम्भ सृष्टि के प्रारम्भ से होता है और उनका विलोप प्रलय के साथ ही हो जाता है, उसी प्रकार जिस प्रकार आकाश व अन्य तत्व उदय होते हैं और नष्ट हो जाते हैं। शंकराचार्य ब्रह्म सूत्र भाष्य में यह कहते हैं कि ''वह महान सत्ता जिसने श्रुति के अनुसार एक लीला के रूप में बिना किसी परिश्रम के मनुष्य के निःश्वास भाँति ऋग्वेद तथा अन्य वेदों का आविर्भाव किया जो समस्त ज्ञान की निधि है और वही सत्ता देवता, मनुष्य,पशु जगत् वर्ण तथा जीवन सम्बन्धी आश्रमों इत्यादि के विभाग का कारण है, ऐसी सत्ता को अवश्य ही सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान होना चाहिए।''

इस प्रकार शंकराचार्य का मानना हे कि वेदों में विश्व के आदर्श रूप का विधान है और चूँकि संसार प्रवाहरूप से नित्य है, इसलिए वेद भी नित्य है। इसके अतिरिक्त क्रमगत संसारों की एक नित्य आकृति होने के कारण वेदों की प्रमाणिकता में किसी भी सृष्टि युग में कोई अन्तर नहीं आता। शंकराचार्य का

कहना है कि जिन अर्थों में परम यथार्थसत्ता नित्य है, मूल आदर्श आकृतियों के उन अर्थों में नित्य नहीं है, क्योंकि वे सब अविद्या से उत्पन्न है। वस्तुतः शंकराचार्य ने वेदों की प्रामाणिकता को न्याय एवं मीमांसा के विचारकों द्वारा दी गयी युक्तियों से भिन्न युक्तियों के आधार पर सिद्ध किया है। उनके अनुसार वेद नित्य हैं और स्वयं प्रकाश हैं, क्योंकि वे ईश्वर के स्वरूप को ही प्रकाशित करते हैं, जिसके विचार उनके अन्दर दिये गये हैं। वेद की प्रामाणिकता स्वतः सिद्ध तथा साक्षात् है इसीलिए शंकराचार्य यह कहते हैं कि श्रुति ही हमें ऐसा ज्ञान प्रदान करती है जो इन्द्रियों या विचारशक्ति (तर्क) द्वारा प्राप्त नहीं हो सकता। प्रकृति तथा उसके गुणों से सम्बद्ध रखने वाले विज्ञान का श्रुति भी उल्लंघन नहीं कर सकता। परन्तु धर्म एवं अधर्म सम्बन्धी विषयों पर श्रुति ही एकमात्र प्रमाण है। शंकराचार्य के अनुसार साधारणतः धर्म विषय जिज्ञासा चित्त को ब्रह्म के प्रति जिज्ञासा के लिए प्रेरित करती है, जिसका प्रमाण श्रुति है।

शंकराचार्य इस मत का खण्डन करते हैं कि संसार की वस्तुएँ हमारी कल्पना से उत्पन्न आभासमात्र हैं, किन्तु एक आध्यात्मिक ज्ञान विषयक आदर्शवाद (प्रत्ययवाद) का समर्थन करते हैं, इस अर्थ में ज्ञेय विषय भी आत्मा के रूप है। ज्ञेय वस्तु अपने लिए कोई अस्तित्व नहीं रखते हैं और यदि वे मेंरे अथवा तुम्हारे चैतन्य के वस्तु विषय नहीं है तो वे दैवी चैतन्य के वस्तु विषय हैं। एक शाश्वत दैवीय प्रत्यक्ष द्रष्टा के कारण संसार की व्यवस्था बनी रहती है। वह सार्वभौम आत्मा है जो सृष्टि की रचयिता और विश्व की सभी वस्तुओं से अभिज्ञ है। शंकराचार्य के अनुसार वस्तुतः विश्व की सभी वस्तुएँ अपने स्वरूप में अध्यात्मिक हैं। इस प्रकार आत्मा परमसत्य है जो ज्ञान प्राप्त करने वाले विषयी तथा ज्ञात विषय से अतीत है और यही परम यथार्थ सत्ता है, जिसके अतिरिक्त और किसी का अस्तित्व नहीं है।

शंकराचार्य श्रुति के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं कि यद्यपि अन्तर्दृष्टि से प्राप्त अनुभव सबसे अधिक प्रामाणिक होता है, तो भी इसमें धारणा सम्बन्धी व्यापकता का अंश अल्प मात्रा में ही रहता है। इसीलिए इसे व्याख्या की आवश्यकता होती है और इन व्याख्याओं में भूल होने की संभावना भी रहती है एवं इस प्रकार इनकी अन्तर्हित पुनरावृत्ति की आवश्यकता होती है। श्रुति ऐसे विषयों का व्याख्या करती है जिन्हें पूर्णता के साथ कथन नहीं करना चाहिए। प्रज्ञावान विद्वान मनुष्य उस भाषा तथा तर्क का आविष्कार करते हैं जो श्रुतिवाक्यों के व्याख्यान को लिए उपयुक्त हैं। ऐसे व्यक्ति जिन्हें साक्षात् अन्तर्दृष्टि से ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता, ऐसे दैनिक विचारों पर विश्वास करके उन्हें स्वीकार करने के लिए विवश हैं, जिनमें कुछ एक ऐसे उच्चकोटि के मस्तिष्कों के अनुभव अभिलेख के रूप में सुरक्षित रखे गये हैं जिन्हें यथार्थसत्ता के बोध ग्रहण के साथ एक दीर्घकाल तक संघर्ष करना पड़ा।

शंकराचार्य का यह मानना है कि 'सत्यविजिज्ञासितव्यम्' अर्थात् सत्य की जिज्ञासा ही की जा सकती है और वे स्वयं विपक्षी दर्शन पद्धतियों की समालोचना करने में अविरोध के सिद्धांत का सत्य के अनुसन्धान के लिए उपयोग करते हैं। इसलिए शंकराचार्य का यह कहना है कि वैदिक प्रामाण्य इन्द्रियों की साक्षी अथवा तर्कसम्मत निर्णयों से कहीं अधिक श्रेष्ठ है, यद्यपि इसमें सन्देह नहीं है कि उन क्षेत्रों में जो प्रत्यक्ष तथा अनुमान के विषय हैं वे अनुपयुक्त हैं। इसीलिए शंकराचार्य का यह मानना है कि सैकड़ों श्रुतिवाक्य भी अग्नि को ठंडा नहीं बना सकते। श्रुति का उद्‌देश्य यह है कि ऐसे ज्ञान को जो साधारण साधनों द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता, हमें प्रदान करें।

शंकराचार्य का मानना है कि वेदों का आशय आत्मा के एकत्व की शिक्षा देना है। इसलिए उनका कहना है कि वेदान्त की यह खोज हमें अविद्या से मुक्ति दिलाने का कारण नहीं है, क्योंकि सारी खोज तथा ज्ञान जिनके साथ विषयी तथा विषय सम्बन्धी द्वैत का भाव लगा हुआ है, ब्रह्म के साक्षात्कार में बाधा स्वरूप है। यह हमारे अज्ञान को प्रकट करने में साहयक तो हो सकता है, किन्तु ज्ञान की प्राप्ति नहीं करा सकता। इसीलिए शंकराचार्य यह कहते हैं कि अविद्या को दूर करना ही सत्य को ग्रहण करना है, ठीक जिस प्रकार रस्सी का ज्ञान होने का तात्पर्य है, सर्परूपी भ्रान्ति ज्ञान का दूर हो जाना (अविद्याकल्पित भेदनिवृत्ति)। उनका यह मानना है कि सत्य के ज्ञान के ग्रहण के लिए साथ में किसी अन्य साधन अथवा ज्ञन के नयी क्रिया की आवश्यकता नहीं है। द्वैतभाव के नष्ट हो जाने पर फिर ज्ञान को एक क्षण की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ती है, क्योंकि द्वैतभाव के नष्ट होने के पश्चात् भी यदि समय की अपेक्षा हो, तो एक अन्तरहित पश्चाद्गति आ जाएँगी और द्वैतभाव का कभी नाश न होगा। इसलिए इन दोनों अर्थात ज्ञान और द्वैतभाव का विनाश एक ही समय में सम्पन्न होते हैं। जब भ्रान्ति विचार प्रकाश में आ जाते हैं तो हम यथार्थ सत्ता तक पहुँच जाते हैं। यदि यह प्रश्न किया जाएँ कि हम अविद्या से विद्या की ओर कैसे पहुंचते हैं जो एक अनुचित प्रश्न है, क्योंकि जब भ्रान्ति नष्ट हो जाती है तो सत्य जो स्वतः पूर्ण है, प्रकाश में आ जाता है, तो इससे अधिक उत्तम उत्तर और नहीं हो सकता कि ईश कृपा ही साधन है। वास्तविकता यह है कि विशुद्ध आत्मा एक ऐसे अन्धे मनुष्य की भाँति है जिसकी विनष्ट हुई दृष्टिशक्ति ईश्वर की कृपा से फिर लौट आए।

शंकराचार्य के अनुसार श्रुति को मानने का तात्पर्य है, सन्तों तथा ऋषियों की साक्षी को स्वीकार करना। श्रुति की उपेक्षा करना मनुष्य जाति के अनुभव के अत्यन्त सजीव भाग की उपेक्षा करना है। शंकराचार्य के अनुसार हमारे अन्दर की शक्ति हमें बलात् विश्वास करने की ओर प्रेरित करती है। यह शक्ति हमारे अन्दर अन्तर्निहित आध्यात्मिक प्रेरणाएँ हैं, जिनकी तर्क के आधार पर उपेक्षा नहीं की जा सकती। वास्तविकता यह है कि शंकर के कमबद्ध दर्शन का उद्देश्य ज्ञान के द्वारा हमारे भ्रम का निवारण करना है और यह प्रतिपादित करना है कि तर्कशास्त्र अपने आप में हमें संशयवाद की ओर ले जाता है। हम मान लेते हैं कि किस संसार में तर्क भी है और धार्मिकता भी है। हम बिना तर्कबुद्धि के द्वारा उपलब्ध अर्थपूर्ण तथ्यों के भी इस संसार को एक पूर्ण इकाई के रूप में स्वीकार करते हैं। इसलिए ईश्वर रूपी दैवी मस्तिष्क की सुरक्षा का भाव आता है। इसके अतिरिक्त सत्य को एक समान विरोध रहित तथ सार्वभौम रूप में स्वीकार होना चाहिए, यद्यपि विचार के नियमों को इस प्रकार से मान्य नहीं ठहराया जाता, किन्तु वेद ज्ञान के नित्य स्रोत रूप हैं इनका प्रतिपाद्य विषय ठोस आधार पर आधारित है और इसके ज्ञान द्वारा पूर्ण ज्ञान भूत, वर्तमान तथा भविष्यत की समस्त कल्पनाओं द्वारा भी विपरीत नहीं ठहराया जा सकता।

शंकराचार्य का यह मानना है कि श्रुति में आत्मसम्बद्ध तथ्यों का प्रतिपादन किया गया है, जिनके द्वारा मनुष्य जाति के अधिकांश भाग के सहज बोधों की सन्तोषप्रद व्याख्या की गयी है। इसके अन्दर मनुष्य जाति के परिपक्व विचारों का समावेश है, जिनमें विचार की अपेक्षा आत्मा के जीवन्त स्वरूप का वर्णन अधिक हैऔर हममें से उन व्यक्तियों के लिए जो आत्मा के उस जीवन्त स्वरूप में भाग नहीं लेते उनके लिए श्रुति ज्ञान की अनुभूति बहुत ही महत्वपूर्ण है।

3.9 निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि शंकराचार्य ने अपने अद्वैत वेदान्त में अनुभव, तर्क एवं श्रुति को समुचित स्थान दिया है, किन्तु उन्होंने श्रुति को विशेष महत्व देते हुए आध्यात्मिक विषय के सन्दर्भ में प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है। उनका यह दृढ़ मत है कि धर्मशास्त्र के कथनों का अन्तर्दृष्टि द्वारा जाने गये तथ्यों के अनुकूल होना आवश्यक है। सबसे उच्चकोटि का प्रमाण प्रत्यक्ष है, चाहे ये आध्यात्मिक हों या ऐन्द्रिक, किन्तु उसे इस योग्य होना चाहिए कि निश्चित अवस्थाओं के अनुसार इसका हम भी अनुभव कर सकें। श्रुति का भी प्रमाण इसी तथ्य के आधार पर माना गया है कि यह केवल अनुभव का ही आख्यान है और चूँकि अनुभव आत्म–परिचयरूप होता है, इसलिए वेदों को स्वतः प्रामाण्य कहा गया है, जिन्हें बाहर से किसी के समर्थन की आवश्यकता नहीं है। इसलिए वेदों में भी वे सत्य हैं जिनकी खोज मनुष्य अपनी शक्तियों का उपयोग करके भी कर सकता है। यद्यपि यह हमारे लिए एक उपयोगी विषय है कि वे ईश्वर प्रदत्त हैं क्योंकि हम देखते हैं कि सब मनुष्यों का इतना साहस समय तथा साधन प्राप्त नहीं है कि वे इस प्रकार के उपक्रम की कठिनाइयों का सामना कर सकें।

प्रश्नावली

लघु उत्तरीय प्रश्न–

1. शंकराचार्य के अनुसार लौकिक ज्ञान क्या है?
2. तर्क की भूमिका पर चर्चा करें।
3. अद्वैत वेदान्त में श्रुति प्रमाण की व्याख्या करें।
4. शंकराचार्य के अनुसार अनुभव क्या है?
5. अद्वैत वेदान्त में श्रुति का स्थान निर्धारित करें।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न–

1. तार्किक ज्ञान की अपूर्णता की व्याख्या करें।
2. शंकराचार्य के प्रमाणों पर निबन्ध लिखिए।

****

इकाई–4

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में अपरोक्षानुभूति

संरचना

4.0 **उद्देश्य**

4.1 **प्रस्तावना**

4.2 **शंकराचार्य के अनुसार ज्ञान के भेद**

4.2.1 अपरोक्ष ज्ञान

4.2.2 शंकराचार्य के अनुसार अपरोक्ष ज्ञान की प्रागपेक्षाएँ

4.2.3 परोक्ष ज्ञान

4.3 **चैतन्य अन्य अवस्थाओं में प्राप्त ज्ञान**

4.4 **शंकराचार्य के अनुसार आत्मतत्व सभी ज्ञान का आधार है**

4.5 **विशुद्ध चैतन्य सर्वोपरि तत्व है**

4.6 **शंकराचार्य के अनुसार परम यथार्थ सत्ता अद्वैत रूप आत्मा है**

4.7 **शंकराचार्य के अनुसार अन्तःकरण इन्द्रिय व्यापारों का संस्थान है**

4.8 **शंकराचार्य आध्यात्मिक ज्ञान विषयक आदर्शवाद का समर्थन करते हैं**

4.9 **शंकराचार्य के अनुसार अपरोक्षानुभूति का स्वरूप**

4.10 **शंकराचार्य के अनुसार अपरोक्षानुभूति सर्वोपरि आत्मा के सत्य का साक्षात्कार है**

4.11 **शंकराचार्य के अनुसार अद्वैतात्मक अस्तित्व अन्तस्तम का अनुभव है**

4.12 **निष्कर्ष**

4.0 उद्देश्य

शंकराचार्य ने अपने अद्वैत वेदान्त में इस बात पर विचार किया है कि यदि ब्रह्म प्रत्यक्ष, अनुमान, तर्क एवं श्रुति द्वारा नहीं जाना जा सकता है तो ब्रह्म को जानने का साधन क्या है? इस प्रश्न के समाधान में शंकराचार्य अपने मत को व्यक्त करते हुए यह कहते हैं कि अपरोक्षानुभूति ही ब्रह्म साक्षात्कार करा सकती है। शंकरचार्य का यह मानना है कि ब्रह्म ज्ञाता है, वह ज्ञेय नहीं है कि उसका ज्ञान किसी अन्य प्रमाण से हो सकता है। शंकराचार्य का यह कहना है कि अनुभूति के अतिरिक्त जितने भी प्रमाण है। वे सब अनुभव प्राप्ति के साधन मात्र हैं। उनके द्वारा केवल साधन मूल्य की ही प्राप्ति संभव है, साध्य मूल्य की प्राप्ति नहीं।

अतएव स्वानुभूति के अतिरिक्त जितने भी प्रमाण हैं उनका कार्य ब्रह्म साक्षात्कार कराना नहीं, वरन् अविद्याकल्पित भेदों की निवृत्ति करना ही है।

4.1 प्रस्तावना

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में तात्विक दृष्टि से ज्ञान परम तत्व का स्वरूप है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से हम ज्ञान को एक प्रक्रिया के रूप में ले सकते हैं, जिसे जीव सम्पन्न करता है। विशुद्ध आत्मा तो ज्ञान से अभिन्न है, किन्तु जीवात्मा को बाह्य संसार को जानने के लिए प्रक्रिया करने की आवश्यकता होती है, वस्तुतः जीव एक इकाई न होकर दो घटकों का समुच्चय है। प्रथम अन्तःकरण और द्वितीय साक्षी। यही कारण है कि शंकराचार्य निष्क्रिय साक्षी और सक्रिय अन्तःकरण के योग को ही जीव कहते हैं। वे अन्तःकरण विशिष्ट चैतन्य को 'जीव' और अन्तःकरण से उपहित चैतन्य को साक्षी कहते हैं। शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में ज्ञान से तात्पर्य केवल अन्तःकरण की वृत्ति से है और न केवल साक्षी से ही है, वरन् साक्षी से प्रेरित वृत्ति से है। यहाँ वृत्ति–तत्व ज्ञान का आपातिक अंश है तथा साक्षी तत्व ज्ञान का शाश्वत तत्व है। आत्मा जब अन्तःकरण की वृत्तियों के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है तो वह परिवर्तनशील दिखाई पड़ता है, जबकि वास्तविकता यह है कि आत्मा अपरिवर्तनशील तत्व है। किन्तु वृत्तियों में परिवर्तन के कारण अज्ञान वश अपने को परिवर्तनशील समझ बैठता है। जब साक्षी को साक्षी या विषयी के रूप में अपना ज्ञान हो जाता है, तो उसे साक्षी ज्ञान कहते हैं, किन्तु जब साक्षी को वृत्ति के माध्यम से वाह्य विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है तो उसे वृत्ति कहते हैं। साक्षी का ज्ञान विषयी का ज्ञान है, परवृत्ति ज्ञान विषय का ज्ञान है। शंकराचार्य का यह मानना है कि सभी ज्ञान का लक्ष्य अनुभव ही है। प्रत्यक्ष, अनुमान, एवं श्रुति इत्यादि प्रमाणों का कार्य मात्र इतना ही है कि वे प्रदर्शित करें कि आत्मा अनात्म वस्तुओं से विल्कुल पृथक् है। अनादि, अनन्त तथा नैसर्गिक अध्यास को दूर करना श्रुति आदि प्रमाणों का कार्य होता है। अतः शंकराचार्य का यह मानना है कि आत्मज्ञान को प्राप्त करने की अपेक्षा अनात्म–बुद्धि की निवृत्ति करना ही प्रमाणों का कार्य होता है। ज्यों ही अनात्म बुद्धि का निरास होता है, हम आत्मज्ञान को प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं, जो हमारा स्वभाव है। यही शंकराचार्य के अनुसार अपरोक्षानुभूति है।

4.2 शंकराचार्य के अनुसार ज्ञान के भेद

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त के अनुसार ज्ञान दो प्रकार का होता है – प्रथम अपरोक्ष ज्ञान और द्वितीय परोक्ष ज्ञान।

4.2.1 अपरोक्ष ज्ञान

शंकराचार्य ने अपने अद्वैत वेदान्त में यह स्पष्ट किया है कि शाश्वत चैतन्य केवल एक ही है, किन्तु उपाधियों के भेद के कारण वह अनेक प्रकार का प्रतीत होता है, उदाहरण के लिए घटादि विषयों से अवच्छिन्न विषय चैतन्य अन्तःकरण की वृत्ति से अवच्छिन्न होकर चैतन्य प्रमाण चैतन्य तथा स्वयं अंन्तःकरण से अवच्छिन्न प्रमातृ चैतन्य कहा जाता है, उनका यह कहना है कि वाह्य –प्रत्यक्ष में तैजस् मन, इन्द्रिय द्वारा बाहर आकर विषय पर प्रमेंय के पास पहुंचकर उसका आकार ग्रहण कर लेता है। इन आकारों में होने वाला अन्तःकरण का परिणाम ही अन्तःकरण की वृत्ति कही जाती है। इस प्रकार प्रमाण –चैतन्य और विषय चैतन्य

का तादात्म्य स्थापित हो जाता है। पुनः अन्तःकरण की वृत्ति में नित्य चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है, जिसे चिदाभास कहते हैं। वास्तविकता यह है कि अन्तःकरण वह अधिष्ठान है, जहाँ प्रमेय चैतन्य, प्रमाण चैतन्य या प्रमातृ चैतन्य के बीच तादात्म्य स्थापित होता है, तभी अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति होती है। अपरोक्ष ज्ञान और ऐन्द्रिक ज्ञान दोनों समान नहीं है। इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान के अतिरिक्त भी अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। शंकराचार्य उदाहरण देते हुए यह कहते हैं कि हमें जीवात्मा का भी ज्ञान अपरोक्ष ज्ञान से प्राप्त होता है, पर इसे इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान की संज्ञा नहीं दी जा सकती है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि अपरोक्षता का लक्षण क्या है ? इसके उत्तर में अद्वैत वेदान्ती शंकराचार्य का कहना है कि इन्द्रियजन्य ज्ञान अपरोक्षता का लक्षण नहीं है,वरन् प्रमाण चैतन्य व प्रमेय चैतन्य का तादात्म्य ही अपरोक्षता का लक्षण है।

4.2.2 शंकराचार्य के अनुसार अपरोक्ष ज्ञान की प्रागपेक्षाएँ

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त के अनुसार अपरोक्ष ज्ञान की तीन प्रागपेक्षाएं हैं– योग्यता, वर्तमानता एवं सन्निकृष्टता।

(1) **योग्यता** – जब तक किसी वस्तु में हमारे अपरोक्ष ज्ञान होने की क्षमता नहीं है, तब तक वह वस्तु हमारे ज्ञान का विषय नहीं बन सकती। यह अपरोक्ष या अपरोक्ष प्रत्यक्ष ज्ञान को श्रुति प्रमाण से पृथक् करती है। मेंज और कुर्सी में प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय होने की योग्यता है, पर धर्म और अधर्म हमारे प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय नहीं हो सकते, क्योंकि उनमें प्रत्यक्ष ज्ञान होने की योग्यता नहीं है। वे श्रुति ज्ञान के ही विषय हो सकते हैं, जो इन्द्रियातीत विषयों से सम्बन्धित होता है।

(2) **वर्तमानता** – प्रत्यक्ष विषय में वर्तमानता का होना आवश्यक है। भूतकाल या भविष्यकाल का प्रत्यक्ष या अपरोक्ष ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। यह लक्षण प्रत्यक्ष को स्मृति से पृथक् करता है।

(3) **सन्निकृष्टता** – प्रत्यक्ष ज्ञान तभी संभव हो सकता है जबकि विषयी और विषय के बीच परस्पर सन्निकर्ष हो। जिस वस्तु के माध्यम से विषयी और विषय के बीच परस्पर सम्बन्ध स्थापित होता है उसे 'वृत्ति' कहते हैं। वाह्य वस्तुओं के ज्ञान में विषयी और विषय भिन्न–भिन्न देश में अवस्थित होते हैं और वृत्ति दोनों का अष्ठिान होती है। जब वृत्ति और वस्तु का तादात्य होता है तभी प्रत्यक्ष की उत्पत्ति होती है।

4.2.3 परोक्ष ज्ञान

शंकराचार्य या प्रतिपादित करते हैं कि वाह्य वस्तुओं के ज्ञान में योग्यता, वर्तमानता एवं सन्क्रिृष्टता की उपस्थिति अनिवार्य है। अपरोक्ष ज्ञान की इन तीन प्रागपेक्षाओं में यदि एक या एक से अधिक प्रागपेक्षाएं विद्यमान न हों तो वह परोक्ष ज्ञान कहा जाएगा। उदाहरण के लिए दीवाल के उस पार की वस्तुओं का ज्ञान परोक्ष ही होगा, क्योंकि हमारी वृत्ति या अन्तःकरण दीवाल के उस पार जाकर उनका स्वरूप ग्रहण नहीं कर सकता। उसमें योग्यता तथा वर्तमानता तो है किन्तु सन्निकृष्टता का अभाव है। इसीलिए ऐसा ज्ञान परोक्ष ज्ञान की कोटि में आता है।

4.3 चैतन्य अन्य अवस्थाओं में प्राप्त ज्ञान

शंकराचार्य का यह मानना है कि हमें केवल जागृत अवस्था में ही ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, चैतन्य की अन्य अवस्थाओं में भी हमें किसी न किसी प्रकार के

ज्ञान की प्राप्ति होती है। आत्मा कभी भी ज्ञान से रहित नहीं होता है। इसलिए शंकराचार्य ने अद्वैत वेदान्त में चैतन्य की चार अवस्थाओं के अनुरूप भी ज्ञान रहने की बात स्वीकार्य की है। उनका यह कहना है कि जागृत अवस्था में व्यवहारिक जगत का ज्ञान प्राप्त होता है। स्वप्नावस्था में मानसिक सत्ताओं का ज्ञान प्राप्त होता है। सुषुप्तावस्था में अविद्या अपनी आवरण शक्ति तत्व के वास्तविक स्वरूप को ढक लेती है और इस अवस्था में नामरूप का अभाव तथा व्यक्तित्व का सातत्य रहता है। इस अवस्था में आत्मा अपने वास्तविक स्वरूप में स्थित होता है। चैतन्य की अन्तिम अवस्था तुरीयावस्था है, जिसे मोक्ष की अवस्था कह सकते हैं। इसमें सभी प्रकार के अज्ञान का अभाव रहने के कारण इसे आनन्द की अवस्था कहते हैं और यही मोक्ष है। चैतन्य की तुरीयावस्था में ही अद्वैत आत्मतत्व का बोध प्राप्त होता है, जिसे अपरोक्षानुभूति कहा जाता है।

4.4 शंकराचार्य के अनुसार आत्मतत्व सभी ज्ञान का आधार है

वेदान्त सूत्र के अपने भाष्य में वे अनुभव के ऐसे सभी दावों पर विचार करते हैं कि क्या अनुभव में कोई ऐसा तत्व है जिसे आधारभूत सत्ता माना जाएँ? शंकराचार्य इस प्रश्न का उत्तर देते हुए यह कहते हैं कि यद्यपि समस्त प्रमेंय पदार्थ विश्वास के ही विषय हैं और इसलिए उनमें सन्देह भी हो सकता है किन्तु अनुभव के अन्दर ऐसा कुछ अवश्य हो सकता है, जो उससे परे इन्द्रियातीत हो। शंकराचार्य के अनुसार बोध शक्ति तथा उसके कार्यों से ही ज्ञान सम्पन्न सत्ता की पूर्व कल्पना होती है, जो आत्मा के नाम से जानी जाती है, जो उनसे भिन्न है, स्वयं सिद्ध है तथा जिसके अधीन वे सब हैं। इसीलिए शंकराचार्य यह कहते हैं कि आत्म सम्बन्धी विचार भाव का विषय है। इसका अस्तित्व साक्षात् दर्शन के कारण बताया जाता है। इसकी सिद्धि नहीं हो सकती क्योंकि समस्त प्रमाणों का यही आधार है तथा समस्त प्रमाणों से पूर्व इसकी स्थापना आवश्यक है। तार्किक दृष्टि से यह एक स्वतः सिद्ध आधार तत्व है, हमको इसे स्वतः सिद्ध मान लेना होता है। आध्यात्मिक दृष्टि से आत्म अस्तित्व के भाव के अन्दर नित्यता निर्विकारता और पूर्णता के भाव समाविष्ट हैं। इसीलिए शंकराचार्य आत्मा के स्वरूप के विषय में यह कहते हैं कि 'नित्योपलब्धिस्वरूपत्वात्' अर्थात् आत्मा का यथार्थ स्वरूप नित्य ज्ञान है। पुनः वे कहते हैं कि जो सचमुच में यथार्थ है, वह अपने में सत है और अपने लिए सत् है, यहाँ तक कि आत्मा की यथार्थ सत्ता को स्वीकार करना एक नित्य ब्रहम की सत्ता को स्वीकार करना है। ब्रह्म की यथार्थता का मूल यह है कि वह प्रत्येक की आत्मा की आधारभूमि है।

4.5 विशुद्ध चैतन्य सर्वोपरि तत्व है

शंकराचार्य के अनुसार विशुद्ध चैतन्य केवल अभिज्ञता है जो सर्वोपरि तत्व है, जिसके अन्दर ज्ञाता–ज्ञेय–ज्ञान विषय का कोई भेद नहीं है, जो अनन्त है, अतीन्द्रिय है तथा निरपेक्ष ज्ञान का सारतत्व है। इसका स्वरूप निर्विषयक चैतन्य का है। आत्म सर्वांगरूप में प्रज्ञा के अतिरिक्त कुछ नहीं है। प्रज्ञा ही उसका अनन्य स्वरूप है, जैसे नमक के राशि का स्वरूप उसके नमकीन स्वाद में है। इसीलिए शंकराचार्य यह कहते हैं कि जब हम ऊंचे उठकर अन्तर्ज्ञान तक पहुँचते हैं, जहाँ प्रमाता तथा प्रमेंय मिलकर एक हो जाते हैं, हम परमार्थ रूप चैतन्य का साक्षात्कार कर सकते हैं यह परम रूप का दर्शन ही है जो अपना दर्शन स्वयं करता है। यही

सारतत्व प्रत्येक का है जो यह सोचकर कि– ''मैं हूँ, जो मैं हूँ' इस प्रकार अपने को जानता है।

4.6 शंकराचार्य के अनुसार परम यथार्थ सत्ता अद्वैत रूप आत्मा है

शंकराचार्य का यह मानना है कि मनुष्य के अन्तस्तल के गहवर में हमारी आत्मा का एक ऐसा अस्तित्व है, जिसके बारे में वह कुछ भी कथन नहीं करता। परम यथार्थ सत्ता अद्वैत रूप आत्मा है। शंकराचार्य का कहना है कि –''परम चैतन्य एक ही है, जो सर्वव्यापी है, जो सबको प्रकाशित करता है यह अन्तःकरण है, इसका परिवर्तित रूप तथा विषय है।''

4.7 शंकराचार्य के अनुसार अन्तःकरण इन्द्रिय व्यापारों का संस्थान है

शंकराचार्य के अनुसार अन्तःकरण इन्द्रिय व्यापारों का केन्द्र स्थान है, वाह्य इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ विषय सामग्री इसे प्राप्त होती है, उसे यह ग्रहण करता है तथा उनकी क्रमबद्ध व्यवस्था करता है। इसे अपने आप में इन्द्रिय नहीं माना गया है, क्योंकि यदि यह इन्द्रिय होता, तो इसके अपना तथा अपने परिवर्तनों का साक्षात् प्रत्यक्ष ज्ञान न हो सकता इसमें पारदर्शिता का गुण है, जिसके द्वारा इसमें प्रमेंय प्रतिबिम्बित होते हैं, जिस प्रकार एक दर्पण में उसकी चमक के कारण हमारे चेहरे उसमें प्रतिबिम्बित है। अतः अन्तःकरण के ही अवधान या अनवधान से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष उत्पन्न होते हैं।

शंकराचार्य के अनुसार 'प्रज्ञा' उच्च श्रेणी की शक्ति है। जिसके कारण ही विचार, तर्क, निर्णय तथा आत्म चैतन्य संभव हो सकते हैं। पदार्थों के प्रतिबिम्बित करने की क्षमता अर्थात् उनके विषय में अभिज्ञ होना अन्तःकरण का स्वाभाविक अन्तर्निहित गुण नहीं है, किन्तु आत्मा के साथ सम्बद्ध होने के कारण यह गुण उसमें आ गया है। यद्यपि कहा जाता है कि अन्तःकरण प्रमेंय पदार्थों पर अपना प्रकाश डालता है तथा उन्हें प्रतिबिम्बित करता है, तो भी यह आत्मा है जो उसके अन्दर प्रतिबिम्बित होती है। आत्मा ही प्रकाश देने वाली है और अन्तःकरण इसी के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करता है। अन्तःकरण के आकृति में परिवर्तन होता रहता है। उन परिवर्तन को जो विषय का प्रकाश करता है, वृत्ति की संज्ञा दी गयी है। अन्तःकरण की प्रवृत्तियाँ तथा आकृतियाँ चार प्रकार की हैं –संशय (अनिश्चय) निश्चय आत्म चेतना तथा स्मरणं एक अन्तःकरण को तब 'मन' कहते हैं, जब वह संशय की स्थिति में होता है, उसे बुद्धि या बोधग्रहण की क्षमता कहा जाता है, जब वह निश्चयात्मक स्थिति में होता है, उसे आत्मचैतन्य के रूप में तब जाना जाता है, जब वह अहंकार भी अवस्था में होता है तथा चित्त नाम से तब पुकारा जाता है, जब वह एकाग्रता की ओर स्मरण की स्थिति में होता है। इसलिए बोध का कारण अन्तिम चैतन्य ही एकाकी नहीं है। यह अन्तःकरण की उपाधि से युक्त चैतन्य है। यह अन्तःकरण प्रत्येक व्यक्ति में भिन्न है और इस प्रकार एक मनुष्य का बोध सब मनुष्यों का बोध नहीं है।

4.8 शंकराचार्य आध्यात्मिक ज्ञान विषयक आदर्शवाद का समर्थन करते हैं

शंकराचार्य इस मत का खण्डन करते हैं कि संसार की वस्तुएँ हमारी कल्पना से उत्पन्न आभासमात्र हैं। वे एक आध्यात्मिक ज्ञान विषयक आदर्शवाद (प्रत्ययवाद) का समर्थन करते हैं, इस अर्थ में ज्ञेय विषय भी आत्मा के रूप हैं। ज्ञेय वस्तु अपने लिए कोई अस्तित्व नहीं रखते हैं और यदि वे मेंरे अथवा तुम्हारे चैतन्य के वस्तु–विषय नहीं है, तो वे दैवीय चैतन्य के विषय–वस्तु हैं। एक शाश्वत दैवीय प्रत्यक्ष द्रष्टा के कारण संसार की व्यवस्था बनी रहती है। वह सार्वभौम आत्मा, जो सृष्टि का रचयिता है और विश्व की सभी वस्तुओं से अभिज्ञ है। शंकराचार्य के अनुसार वस्तुतः विश्व की सभी विषय–वस्तुएँ अपने स्वरूप में आध्यात्मिक हैं। इस प्रकार आत्मा परम तथ्य है, जो ज्ञान प्राप्त करने वाले विषयी तथा ज्ञात विषय से अतीत है, और यही परम यथार्थ सत्ता है जिसके अतिरिक्त और किसी का अस्तित्व नहीं है।

4.9 शंकराचार्य के अनुसार अपरोक्षानुभूति का स्वरूप

शंकराचार्य के अनुसार अपरोक्षानुभूति के ज्ञान नाम की कोई वस्तु नहीं है, क्योंकि समस्त प्रकार के ज्ञान के बीच यह स्वतः प्रकाशित है। अपरोक्षानुभूति के ग्रहण की प्रक्रिया तथा उसके ज्ञान के मध्यवर्ती कोई अन्य मानसिक वृत्ति नहीं होती है। अपरोक्षानुभूति की चेतना बिना किसी व्यवधान के साक्षात् तथा तात्कालिक होती है। एम मानसिक वृत्ति के बोध ग्रहण में अव्यवहित बौद्धिक अन्तर्ज्ञान होता है इसलिए अपरोक्षानुभूति को स्वयं प्रकाश कहा जाता है, जिसका तात्पर्य है कि वे अपने बोध के विषय स्वयं हैं। अपरोक्षानुभूति अव्यवहित प्रत्यक्ष के रूप में सत्य है और यह उसी साधन के द्वारा प्राप्त होता है, जिससे यह प्राप्त होता है। इसलिए अपरोक्षानुभूति का ज्ञान सत्य का ज्ञान है।

शंकराचार्य के अनुसार अविरोध (अबाध) का भाव ही सत्य की कसौटी है ऐसा ज्ञान जिसके विरोध में कुछ भी न हो वही सत्य है। इसलिए शंकराचार्य के अनुसार सर्वोच्च ज्ञान यथार्थता की अपने प्रति साक्षी है और यह इस तथ्य के द्वारा संभव हो सका है कि ज्ञाता एवं ज्ञान दोनों ही परमार्थ रूप में एक है और सत्य है। तार्किक प्रमाण की उत्पत्ति केवल आनुभविक संसार में ही है, जहाँ पर द्रष्टा और दृश्य का परम ऐक्य भाव मनोवैज्ञानिक बाधाओं के रुकावटों के कारण अस्पष्ट रहता है, जिन्हें अविद्याजन्य माना जाता है। तार्किक प्रमाण बाधक आवरणों को नष्ट करने में सहायक होता है और सत्य के स्वयं प्रकाश स्वरूप को प्रकाश में लाता है। शंकराचार्य के अनुसार यथार्थ में विषयी ज्ञाता से भिन्न कुछ भी नहीं है, क्योंकि यथार्थ सत्ता के विषयी (ज्ञाता) में वह सब कुछ समाविष्ट है, जो कुछ संभवतः उसके विषय में हम कह सकते हैं विषयी ज्ञाता के विषय में हम जो कुछ कहते हैं, उस यथार्थ सत्ता से बहुत न्यून है तथा उसका केवल अभासमात्र है। शंकराचार्य का यह मानना है कि विषयी तथा इसके गुणों का विषय के प्रति संक्रमण करना तार्किक दृष्टि से असत्य है, क्योंकि वे एक के सत् तथा गुणों का दूसरे में संक्रमण कर देते हैं। इसीलिए उनका मानना है कि ज्ञान के समस्त साधन तभी तक प्रामाणिक हैं, जब तक निरपेक्ष सत् की प्राप्ति नहीं हो जाती और इस प्रकार परिमित ज्ञान का सापेक्ष महत्व स्पष्ट रूप से अभिव्यंजित नहीं होता। वस्तुतः हमारा समस्त ज्ञान अज्ञान है और उस सबका निराकरण कर देने पर जिसे उसके

ऊपर बलात् आरोपित किया जाता है, निरपेक्ष चैतन्य को निश्चय पूर्वक जान लेने का नाम ज्ञान है।

शंकराचार्य के अनुसार आत्मा का सत्य ज्ञान किसी भी आकृति तथा वृत्ति से रहित है। इसीलिए शंकराचार्य का यह मानना है कि अध्यास हमें एकमात्र निरपेक्ष सत् को विषय–विषयी सम्बन्ध के रूप में विभक्त करने के लिए प्रेरणा देता है, जो मानवीय मास्तिष्क की ही अपनी रचना का परिणाम है। इस अध्यास को, जिसके कारण विषयी तथा विषय जगत् की उत्पत्ति होती है, अनादि, अनन्त, नैसर्गिक मिथ्या प्रयत्नरूप तथा जीवात्माओं के कर्त्तृत्व सुखोपभोग और क्रियाशीलता का कारण बताया गया है और यह सबके ऊपर आधिपत्य जमाये हुए है। इसीलिए शंकराचार्य का यह कहना है कि सार्वभौम यथार्थसत्ता अपनी पूर्णता तथा जटिलता के कारण एक तथा निर्दोष मास्तिष्क को स्वतः सिद्ध मान लेती है और वह ईश्वर है जो विश्व के उन भागों को भी धारण करता है, जो हमारी दृष्टि से बाहर और अप्रत्यक्ष है। हमारा सांसारिक अनुभव यह संकेत करता है कि एक ऐसा प्रकृति तत्व है, जिसकी विचार के लिए आवश्यकता है, किन्तु वह ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे आनुभविक प्रमाणों द्वारा जाना जा सके। मनुष्य होने के नाते हम मानवीय विधि से ही विचार करते हैं। सार्वभौम यथार्थसत्ता को एक केन्द्रीय व्यक्तित्व अथवा विषयी के रूप में माना गया है तथा समस्त जगत् विषय रूप है। यह ऐसा संश्लेषण है, जो तर्क के द्वारा प्राप्त होता है, किन्तु इसकी कोई आवश्यकता नहीं है। यह विचार का तात्कालिक विषय नहीं है। इसे हमारे अनुभव का सबसे उच्च्य श्रेणी का संश्लेषण मान लिया गया है और जब तक इसी प्रकार की रचना का अन्य अनुभव भी है, यह मान्यता बनी रहेगी। यही कारण है कि शंकराचार्य का यह कहना है कि यथार्थ सत्ता अपने लिए सदा ही विद्यमान है और इसलिए उसे अपने विषय में विचार करने की आवश्यकता नहीं है।

4.10 शंकराचार्य के अनुसार अपरोक्षानुभूति सर्वोपरि आत्मा के सत्य का साक्षात्कार है

शंकराचार्य का यह कहना है कि आन्तरिक दृष्टि रूप चेतनता की यथार्थता को मानते हैं, जिसे अनुभव कहते हैं और जहां विषयी और विषय के भेद पाये जाते हैं और सर्वोपरि आत्मा के सत्य का साक्षात्कार होता है। यह एक वर्णनातीत अनुभव है, जो विचार तथा वाणी से परे है और जो हमारे समस्त जीवन में परिवर्तन ला देता है एवं दैवी उपस्थिति का निश्चय करता है। यह ऐसे चैतन्य की अवस्था है जो तब आती है, जब मनुष्य अपने सब प्रकार से सीमित अवस्थाओं से मुक्त कर लेता है, जिसमें बुद्धि भी सम्मिलित है। यह साक्षात्कार या व्यवधान रहित प्रत्यक्ष है, जिसकी अभिव्यक्ति उस अवस्था में होती है जबकि अविद्या का उच्छेद हो जाता है और मनुष्य यह जान लेता है कि आत्मा और जीव एक है। इसे सम्यक् ज्ञान (निर्दोष ज्ञान) सम्यक दर्शन (निर्दोष अन्तर्दृष्टि) भी कहा जाता है। सम्यकज्ञान तो अपने लिए आवश्यक चिन्तन सामग्री के ऊपर बल देता है, किन्तु सम्यगदर्शन अन्तः साक्षात्कार की अव्यवहिता की ओर निर्देश करता है, जिसमें परम यथार्थ सत्ता साक्षात् ईक्षण या ध्यान का विषय है। शंकराचार्य का यह मानना है कि हम यथार्थ विषयों का भी ध्यान कर सकते हैं, किन्तु उनका अनुभव नहीं कर सकते। इस प्रकार शंकराचार्य का अनुभव आदर्शीकृत कल्पना से भिन्न है। कहा जाता है कि योगी समाधिस्थ अवस्था में ईश्वर को देखता है, जिसकी व्याख्या करते हुए शंकराचार्य कहते हैं 40क I40 अपने को पवित्र ध्यान में निमग्न कर देता है। शंकराचार्य आर्षज्ञान को स्वीकार करते हैं, जिसके द्वारा इन्द्र तथा बामदेव ने

ब्रह्म के साथ तादात्म्य का साक्षात्कार किया। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह ज्ञान प्रत्यक्ष के ही स्वरूप का ज्ञान है, क्योंकि यह यथार्थता का साक्षात् ज्ञान है।

4.11 शंकराचार्य के अनुसार अद्वैतात्मक अस्तित्व अन्तस्तम का अनुभव है

शंकराचार्य के अनुसार अद्वैतात्मक अस्तित्व अन्तस्तम अनुभव है, जिसके ऊपर हम जो कुछ भी अतीन्द्रिय जगत के विषय में जानते हैं, तथा विश्वास रखते हैं, वह निर्भर करता है। उनके अनुसार अन्तर्ज्ञान का विषय कोई व्यक्तिगत कल्पना नहीं है और न ज्ञाता के मन में विषयनिष्ठ अमूर्तभाव ही है। यह एक यथार्थ विषय है जिस पर हमारे ज्ञान अथवा अज्ञान का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यद्यपि इसकी यथार्थता देश–काल से बद्ध विशिष्ट विषयों की यथार्थता से कहीं उच्च कोटि की है, जो सदा रहने वाले प्रवाह से सम्बद्ध है और इसलिए जिसे सही अर्थों में यथार्थ नहीं माना जा सकता है। इसीलिए शंकराचार्य का यह कहना है कि आत्म–विषयक साक्षात्कार केवल ऐसे ही चित्त को होता है, जो इसके लिए तैयार हों। शंकराचार्य का यह कहना है कि सत्य का एक अन्तर्निहित तथा सार्वभौम स्वरूप है, जो किसी व्यक्ति के और यहाँ तक कि ईश्वर के भी ऊपर निर्भर नहीं है। उनका यह मानना है कि चूंकि अन्तर्दृष्टि के द्वारा प्राप्त ज्ञान किसी अन्य वस्तु के विपरीत सिद्ध नहीं होता, इसलिए यह सर्वोच्च ज्ञान है। शंकराचार्य यह कहते हैं कि– ''अन्तर्दृष्टि तथा बुद्धि अनन्त यथार्थ सत्ता तथा शान्त मन के बीच जो दरार पड़ी हुई है, उसकी ओर अनुभव और अध्यास का संकेत करते हैं।''

शंकराचार्य का कहना है कि यथार्थ सत्ता उपस्थित है, वस्तुनिष्ठ है और सदा विद्यमान रहने वाली है। वह इस बात की प्रतीक्षा करती है कि कोई उसका साक्षात्कार करे, ऐसे मन से जो उसको ग्रहण कर सके। इसीलिए वे कहते हैं कि वस्तुतः अन्तर्दृष्टि या आध्यात्मिक अनुभव कुछ व्यक्तियों तक ही सीमित है, यद्यपि यह सार्वभौम सम्पत्ति है, फिर भी इसके साक्षात्कार के लिए 'अविद्याकल्पित भेदनिवृत्ति' आवश्यक है। शंकराचार्य का यह स्पष्ट रूप से कहना है कि जब भ्रान्त विचार प्रकाश में आ जाता है तो हम यथार्थ सत्ता तक पहुँच जाते हैं। यदि यह प्रश्न किया जाएँ कि हम अविद्या से विद्या की ओर कैसे पहुँचते हैं जो एक अनुचित प्रश्न है, क्योंकि जब भ्रान्ति नष्ट हो जाती है, तो सत्य जो स्वतः पूर्ण है प्रकाश में आ जाता है, तो इससे अधिक उत्तम उत्तर और नहीं हो सकता कि ईशकृपा ही साधन हे। वास्तविकता यह है कि विशुद्ध दृष्ट शक्ति ईश्वर की कृपा से फिर लौट आए।

शंकराचार्य शांकरभाष्य में कहते हैं कि–'सर्वोध्यात्मास्तित्वं प्रत्येति न नाहमस्मीति' अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति अपनी आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में अभिज्ञता रखता है और यह कोई नहीं सोचता कि में नहीं हूँ। इसीलिए ड्यूसन्स ने 'सिस्टम आफ वेदान्त' में यह विचार व्यक्त करते हैं कि चूँकि जीवात्मा, जो अज्ञान की दशा में आत्मा को कर्मेन्द्रियों (जो शरीर के रूप में प्रकट होती है) से पृथक् करने में असमर्थ है और अविद्या रूपी अन्धकार के द्वारा उस सर्वोच्च आत्मा को नहीं देख पाती, जो कार्य का अधीक्षक है, प्राणिमात्र में निवास करता है तथा सबके ऊपर दृष्टि रखता है। ईश्वर है जो आत्मा का भी कारण है, जिससे और जिसकी आज्ञा से संसार की सृष्टि होती है अर्थात सब कर्मों का सम्पादन और फलोपभोग होता है तथा उसकी कृपा से ही ज्ञान उत्पन्न होता है और इस ज्ञान द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है। आगे वे कहते हैं कि यद्यपि ईश्वर तथा आत्मा का तादात्म्य छिपा हुआ है, तो

भी एक प्राणी जब निरन्तर चिन्तन करता है तथा सर्वोच्च ईश्वर की ओर पहुंचने का प्रयत्न करता है, जिस प्रकार से एक ऐसा व्यक्ति है, जिसकी दृष्टि नष्ट हो गयी है, किन्तु औषधियों के प्रयोग से उसकी दृष्टि वापस आ चुकी है, उसी प्रकार जिस जीवात्मा के अन्दर ईश्वर कृपा से पूर्णता प्राप्त करा देती है, यह अभिव्यक्ति होती किन्तु स्वभावतः हर प्राणी में नहीं। ड्यूसन्स प्रश्न उठाते हैं कि ऐसा क्यों? पुनः प्रश्न का उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि उसके द्वारा यानी ईश्वर के द्वारा जो कारण रूप है, आत्मा का बन्धन और मोक्ष सम्पन्न होता है। बन्धन उस अवस्था में जबकि वह ईश्वर तत्व को ही नहीं समझ पाता और मोक्ष तब जबकि यह उसे समझ लेता है। यही ड्यूसन्स के अनुसार शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में अपरोक्षानुभूति है।

शंकराचार्य भी आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक डेकार्ट की ही भाँति आत्मा की साक्षात् निश्चितता के अन्दर सत्य का आधार पाते हैं, जिसे अन्य पदार्थों के विषय में उत्पन्न होने वाले संशय स्पर्श नहीं कर सकते। यदि आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान न होता, तब प्रत्येक व्यक्ति यह सोचता है कि 'में नहीं हूँ' किन्तु यह सत्य नहीं है। शंकराचार्य यह कहते हैं की आत्मा की सत्ता चेतना के प्रवाह की पूर्ववर्ती है, सत्य तथा असत्य से भी पूर्ववर्ती है, यथार्थता और भ्रान्ति तथा पुण्य और पाप से भी पूर्ववर्ती है। वास्तविकता यह है कि ज्ञान के समस्त साधन अपने प्रमाण आत्मा के अस्तित्व पर ही निर्भर करते हैं और चूँकि इस प्रकार अनुभव अपना प्रमाण स्वयं है, इसलिए आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है।

शंकराचार्य का तर्क है कि हमारे लिए विचार के द्वारा यद्यपि सत्ता (ब्रह्म या आत्मा) को जानना संभव नहीं है, क्योंकि विचार स्वयं अनात्म के क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाले प्रवाह का एक भाग है। परन्तु उनका यह भी मानना है कि हम आत्मा को विचार के क्षेत्र से बाहर भी नहीं कर सकते क्योंकि इसके बिना कोई भी अनुभव संभव नहीं है। शंकराचार्य के अनुसार यह आत्मा सम्बन्धी प्रत्यय साक्षात् अनुभूति का विषय है। इसीलिए वे कहते हैं कि –'अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्माप्रसिद्धः'। उनका यह भी कहना है कि –'आत्मा तु प्रमाणादिव्यवहाराश्रयत्वात् प्रागेव प्रमाणादिव्यवहारात् सिद्धयति' अर्थात् आत्मा के प्रमाणों द्वारा सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि समस्त प्रमाणों का यही आधार है तथा समस्त प्रमाणों के पूर्व इसकी स्थापना आवश्यक है। तार्किक दृष्टि से यह स्वतः सिद्ध आधार तत्व है और हमें इसे स्वतः सिद्ध मान लेना होता हैं इसीलिए वे कहते हैं कि नित्य आत्मा जो कर्त्ता से भिन्न है, क्योंकि कर्त्ता अहं प्रत्यय का विषय है, सब प्राणियों में साक्षी रूप से उपस्थित है, एक समान, एकाकी सत्ता है, जिसका बोध ग्रहण कोई वेद (विधि –काण्ड) से नहीं कर सकता अथवा अन्य भी किसी पुस्तक से नहीं कर सकता, जो तर्क पर आश्रित हो। वह 'सर्वस्यात्मा' अर्थात् समस्त जगत् की आत्मा है और इसलिए उसका कोई निराकरण नहीं कर सकता, क्योंकि जो निषेध करता है, उसकी भी वह आत्मा है।

शंकराचार्य के अनुसार अनुभूति पुंज और चेतनता की धाराएं उठती और गिरती हैं, प्रकट होती हैं और विलुप्त होती है, किन्तु ज्ञान के विषय में जब परिवर्तन हो जाता है, तब भी ज्ञात परिवर्तित नहीं होता, क्योंकि उसका अस्तित्व भूत, वर्तमान और भविष्य में भी है एवं उसका सारतत्व सदा से उपस्थित है– 'सर्वदावर्तमानस्यभावत्वात्'। शंकराचार्य का कहना है कि हमें आत्मा के प्रत्यय का ज्ञान तभी हो सकता है, जब हम इसे अनुभव के समस्त तत्वों से पृथक् करके देखते हैं। वास्तविकता यह है कि आत्मा निर्विशेष चिन्मात्र है, जिसके ऊपर शरीर की भस्मीभूत हो जाने का कोई प्रभाव नहीं होता।

शंकराचार्य का यह स्पष्ट रूप से कहना है कि आत्मा के अन्दर चैतन्य सदा विद्यमान रहता है, उस अवस्था में जब कि कोई ज्ञातव्य विषय उपस्थित न हो। यह विशुद्ध प्रकाश है, व्यापक रूप में ज्योतिष्मान है एवं न केवल हमारे समस्त ज्ञान का आधार है, अपितु हमारी दृष्टि का भी प्रकाश है। तैत्तिरीय उपनिषद् का उद्धरण देते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि –आत्मा है, प्रकाशमान है और प्रसन्नता प्रदायक है। अतएव आत्मा की अपरोक्षानुभूति भी आनन्द की प्रकृति का ही है। सब प्रकार के दुःखों से भुक्ति का नाम आनन्द है। वास्तविकता यह है कि आत्मा अपने अपरोक्षानुभूति में न कुछ त्यागती है और न ही कुछ नवीन प्राप्त करती है, अपितु यथार्थसत्ता की अवगति प्राप्त करती है। शंकराचार्य आत्मा के अन्दर क्रियाशीलता का अभाव मानते हैं, क्योंकि क्रियाशीलता स्वभाव से अनित्य है। आत्मा किसी क्रिया का स्थान नहीं हो सकती, क्योंकि क्रिया जिस वस्तु में रहती है, उसमें कुछ परिवर्तन अवश्य उत्पन्न करती है। सब प्रकार की क्रिया आत्मभाव की पूर्वकल्पना करती है और जहाँ तक हमें ज्ञान है, यह दुःखस्वरूप और इसकी प्रेरक इच्छा है। क्रिया और सुखोपभोग द्वैत भाव पर आधारित है और द्वैतात्मक दृष्टिकोण सर्वोच्च सत्य नहीं है। आत्मा में शरीर आदि प्रतिबन्ध के बिना क्रिया नहीं हो सकती, किन्तु प्रत्येक प्रतिबन्ध अयथार्थ है। इसीलिए शंकराचार्य कहते हैं कि –'स्वयंअनधिकारिणः' अर्थात् आत्मा में कोई कर्त्तृत्व नहीं है।

4.12 निष्कर्ष

शंकराचार्य शांकरभाष्य में कहते हैं कि–'सत्यत्वम् स्वमहिमाप्रतिष्ठितत्वम् सर्वगतत्वम्' अर्थात् आत्मा सत्य है, अपने ही विशिष्टता से प्रतिष्ठित है, सर्वव्यापक तथा सभी लोगों की आत्मा है। वास्तविकता यह है कि शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित आत्मा जीवात्मा नहीं है जो ज्ञाता और कर्त्ता है। शंकराचार्य द्वारा प्रतिपादित आत्मा न तो शरीरधारी जीवात्मा है और न ही ऐसी आत्माओं का एकीकृत पुंज है, जिसे ज्ञाता और कर्त्ता के रूप में माना जाएँ, क्योंकि ऐसी आत्माओं को वे सार्वभौम आत्मा के ऊपर निर्भर मानते हैं। इसीलिए शंकराचार्य का कहना है कि आनुभविक अर्थ में यह ऐसी वस्तु नहीं है, जिसका निर्देश हम शब्दों द्वारा कर सकें और न ही यह गाय के समान कोई प्रमेंय पदार्थ है, जिसका ज्ञान ज्ञान के साधारण साधन के द्वारा हो सके। आत्मा को सदा निष्क्रिय कहा गया है, जिसके कारण उसके स्वरूप का ठीक–ठीक वर्णन नहीं हो सकता। शंकराचार्य का यह मानना है कि तार्किक दृष्टि से आनुभविक आत्मा ही एकमात्र यथार्थ सत्ता है और यह विशुद्ध आत्मा का केवल आभास मात्र है। वस्तुतः जब हम लौकिक ज्ञान से ऊपर उठकर अपरोक्षानुभूति तक पहुँचते हैं जहाँ प्रमाता और प्रमेंय मिलकर एक हो जाते हैं, हम परमार्थ रूप चैतन्य का साक्षात्कार कर सकते हैं। यह परम ब्रह्म का दर्शन ही है, जो अपना दर्शन स्वयं कराता है। यही सारतत्व प्रत्येक मनुष्य का है जो यह सोचकर 'में हूँ', जो में हूँ' इस प्रकार अपने को जानता है। यह नितान्त रूप से यथार्थ है, जिसे कोई भी अनुभव कभी भी परिवर्तित नहीं करेगा। इसका कोई परिणाम नहीं है। हम इसके विषय में यह नहीं सोच सकते कि यह विस्तृत हो सकती है या विभक्त हो सकती है। यह सदा तथा सब कालों में एक समान है। इसमें अनेकत्व नहीं है, क्योंकि यह जितना एक में है उतना ही अन्य में भी है। अतएव हमारे अन्दर सार्वभौम आत्मा की उपस्थिति के कारण से ही अनुभव संभव है और सार्वभौम आत्मा के इस स्वरूप से अभिज्ञ होना अपरोक्षानुभूति है।

प्रश्नावली

लघु उत्तरीय प्रश्न–

1. शंकराचार्य के अनुसार अपरोक्ष ज्ञान क्या है?
2. विशुद्ध चैतन्य सर्वोपरितत्व कैसे है?
3. अपरोक्षानुभूतिका का स्वरूप क्या है?
4. अंतःकरण को स्पष्ट करें।
5. आत्मतत्व सभी ज्ञान का आधार कैसे है?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न–

1. अपरोक्षानुभूतिपर एक निबन्ध लिखिए।
2. ''शंकराचार्य के अनुसार अद्वैतात्मक अस्तित्व अन्तस्तम का अनुभव है।'' व्याख्या करें।

****

MAPH-107
शंकराचार्य का दर्शन

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

खण्ड – 2

अन्य सम्प्रदायों की समीक्षा

इकाई – 1 47–54

सांख्य की आलोचना

इकाई – 2 55–64

शंकराचार्य द्वारा वैशेषिक की आलोचना

इकाई – 3 65–72

बौद्ध दर्शन के सर्वास्तिवाद का खण्डन

इकाई – 4 73–76

शंकराचार्य के द्वारा बौद्ध दर्शन के योगाचार की आलोचना

इकाई – 5 79–86

शंकराचार्य द्वारा माधमिक (शून्यवाद) की आलोचना

इकाई – 6 87–92

शंकराचार्य द्वारा जैन मत की आलोचना

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

एम.ए.पी.एच.–107 (MAPH-107)

सरं क्षक मार्गदर्शक

प्रो.के.एन. सिंह – कुलपति, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

विशेषज्ञ समिति

डॉ.आर.पी.एस. यादव – निदेशक, मानविकी विद्याशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

प्रो. रामलाल सिंह (से.नि.) – दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

प्रो.दीप नारायण यादव – दर्शनशास्त्र विभाग, पं0 दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

प्रो. द्वारिका – विभागाध्यक्ष, पं0 दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।

प्रो. सभाजीत यादव – दर्शनशास्त्र विभाग, महात्मागांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

लेखक

डॉ. श्यामकान्त – असिस्टेंट प्रोफेसर, आर्यकन्या डिग्री कालेज, इला0 वि.वि. प्रयागराज।

डॉ. अतुल कुमार मिश्र – शैक्षिक परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

सम्पादक

प्रो. जटाशंकर – पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

परिमापक

प्रो. आर.पी.एस. यादव – निदेशक मानविकी विद्याशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

समन्वयक

डॉ. अतुल कुमार मिश्र – शैक्षिक परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

2023 (मुद्रित)

© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–211021

ISBN-

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को राजर्षि अण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठय सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ें आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन – उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज– 211021

प्रकाशक – कुलसचिव, विनय कुमार, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज –2023

मुद्रक – के0 सी0 प्रिटिंग एण्ड एलाइड वर्क्स , पंचवटी, मथुरा – 281003.

इकाई–1

सांख्य की आलोचना

संरचना

1.0 उद्देश्य

1.1. प्रस्तावना

1.2. रचनानुपत्तेश्चनानुमानम्

1.3. 'प्रवृत्तेश्चानुपत्तेर्नानुमानम्'

1.4. 'पयोम्बुवच्चेत्तत्रापि'

1.5. 'व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात्'

1.6. 'अन्यच्चभावाच्च न तृणादिवत्'

1.7. 'अभ्युपगमेंप्यर्थाभावात्'

1.8. 'पुरुषाश्वभवदिति चेत्तथापि'

1.9. 'अंगित्वानुपपत्तेश्च'

1.10. 'अन्यथानुमित्तौ च ज्ञ शाक्तिवियोगात्'

1.11. 'विप्रतिषेधाच्चासामंजसम्'

1.12. निष्कर्ष

1.0 उद्देश्य

शंकराचार्य ने सांख्य को वेदान्त का 'प्रधानमल्ल' बताया है। उनकी मान्यता यह है कि यद्यपि सांख्य महर्षि कपिल द्वारा उपदिष्ट और शिष्ट–परिगृहीत है, तथापि द्वैतवादी होने के कारण सांख्य को श्रुतिमूलक नहीं माना जा सकता। श्रुति एवं स्मृति में सांख्य एवं योग शब्द क्रमशः ज्ञान और कर्म के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। सांख्य मत में अचेतन प्रकृति अनुमानिक है एवं श्रुति में चेतन ब्रह्म को ही जगत का कारण बताया गया है। शंकराचार्य ने यह स्पष्ट किया है कि तर्क एवं युक्तियों के आधार पर भी सांख्य मत खण्डित हो जाता है। सांख्य का प्रमुख दोष उसका द्वैतवाद है। अचेतन प्रकृति जगत् की रचना नहीं कर सकती। सृष्टि के लिए आवश्यक मूल प्रवृत्ति अर्थात् गुण साम्यावस्था की गुण वैषम्यावस्था परिणति बिना चेतन तत्व के सहयोग के नहीं हो सकती। सांख्य प्रकृति को प्रयोजन मूलक मानता है। प्रकृति पुरुष के भोग और अपवर्ग के प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए सृष्टि करती है। किन्तु जड़ और अचेतन प्रकृति यह प्रयोजन कैसे सिद्ध कर सकती है? जब प्रकृति अचेतन है, तो उसका कोई प्रयोजन हो नहीं सकता तथा पुरुष भी निष्क्रिय और असंग है। इसलिए उसका भी कोई प्रयोजन नहीं हो सकता। प्रकृति एवं पुरुष का संयोग कराने वाला कोई तीसरा तत्व सांख्य को

स्वीकार नहीं है, ऐसी स्थिति में इसका संयोग कैसे हो सकता है? शंकराचार्य ने अपने सांख्य मत की आलोचना में सांख्य के विरुद्ध विभिन्न प्रश्नों का कोई सम्यक् उत्तर न मिलने के आधार पर सांख्य मत को एक अनुचित एवं अतार्किक सिद्धांत माना है।

1.1 प्रस्तावना

शंकराचार्य ने सर्वप्रथम सांख्यमत, विशेषकर प्रधानकारणवाद का खण्डन कर सांख्य को वेदान्त का 'प्रधानमल्ल' बताया है। शंकराचार्य ने यह स्पष्ट किया है कि यद्यपि वेदान्तशास्त्र वेदान्तवाक्यों का ब्रह्म तत्वपरक व्याख्या करने के लिए प्रवृत्त हुआ है और तर्कशास्त्र के समान केवल युक्तियों से किसी सिद्धांत को सिद्ध करने या दूषित करने के लिए प्रवृत्त नहीं हुआ है, तो भी वेदान्त वाक्यों को व्याख्यान करने वाले सम्यक दर्शन के प्रतिपक्षी सांख्य आदि दर्शनों का निराकरण करना चाहिए। वेदान्तार्थ का निर्णय तत्व ज्ञान के लिए है, किन्तु सांख्यादि अपने पक्ष की स्थापना करने के लिए वेदान्त–वाक्यों का उदाहरण देकर स्वपक्ष के अनुसार उनकी योजना करते हुए व्याख्यान करते हैं। परन्तु सांख्य का जो व्याख्यान है, वह व्याख्यानाभास है, सम्यक व्याख्यान नहीं है। शंकराचार्य का यह कहना है कि द्वैतवादी होने के कारण सांख्य को श्रुतिमूलक नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त अचेतन प्रकृति अनुमानित है एवं सांख्य दर्शन प्रयोजनवादी है। ऐसी स्थिति में अचेतन प्रकृति एवं निष्क्रिय एवं असंग पुरुष में किसी प्रकार का संयोग संभव ही नहीं होगा और सृष्टि के विकास की व्याख्या ही असंभव हो जाएँगी। अतएव सांख्य की अचेतन प्रकृति को जगत्कारण नहीं माना जा सकता।

सर्वप्रथम शंकराचार्य सांख्य मत, विशेषकर उसके प्रधान कारणवाद को स्पष्ट करते हैं। सांख्य मत के अनुसार प्रकृति या प्रधान से ही जगत की उत्पत्ति हुई है। नियम यह है कि जो कार्य जिससे अन्वित होते हैं, वे उस उपादान कारण से उत्पन्न होते हैं। जगत रूप कार्य त्रिगुणात्मक है। अतः कारण भी त्रिगुणात्मक होना चाहिए। विकारों के परिणाम समन्वय से शक्ति की प्रवृत्ति से और कारण से विचित्र कार्य के विभाग और अविभाग से प्रधान सिद्ध होता है। जगत् या सृष्टि के कारण प्रधान की सिद्धि के लिए वे एक दूसरा ही तर्क प्रस्तुत करते हैं, पृथ्वी आदि विकारों का कारण अव्यक्त है, क्योंकि वे घटादि के समान परिमिति है। जिस प्रकार घटादि कार्यों की मृत्तिका रूप कारण शक्ति से प्रवृत्ति होती है। उसी प्रकार महद अहंकार इत्यादि विकारों की भी कारण शक्ति से प्रवृत्त होनी चाहिए, वह शक्तियुक्त कारण प्रधान है। कारण से विचित्र कार्य की उत्पत्ति होती है। मृत्तिका से घटादि की उत्पत्ति होना विभाग है, पर घटादि की मृत्तिका रूप कारण में लीन हो जाना अविभाग है। विश्व की एकता प्रधान कारण की ओर संकेत करती है। अतः सांख्य के अनुसार अव्यक्त प्रधान जगत् का कारण है।

शंकराचार्य सांख्य मत के पूर्व पक्ष का वर्णन करने के पश्चात् अपने उत्तर पक्ष को प्रस्तुत करते हुए सांख्य के प्रधान कारणवाद का खण्डन करते हैं। शंकराचार्य ने सांख्य मत के खण्डन के लिए वादरायण के 'ब्रह्मसूत्र' के सूत्रों का ही उपयोग करते हैं, जो इस प्रकार है–

1.2 रचनानुपत्तेश्चनानुमानम्

शंकराचार्य के अनुसार प्रधान से जगत् की उत्पत्ति सिद्ध नहीं की जा सकती। यदि जगत् का उपादान कारण प्रधान मान लिया जाएँ, तो घट आदि दृष्टान्तों में साध्य अप्रसिद्ध हो जाएगा क्योंकि मृत्तिका आदि चेतनों से अधिष्ठित होकर ही घट आदि कार्यों के उपादान होते हैं। शंकराचार्य यह कहते हैं कि–'विचित्ररचनात्मकं कार्य चेतनाधिष्ठिताचेतनाप्रकृतिकं कार्यत्वात्' अर्थात् गृह, घट इत्यादि कार्यों में विचित्रता चेतन बुद्धिमान शिल्पियों द्वारा ही संभव होती है, अचेतन कारण द्वारा नहीं। सृष्टि में हमें जो व्यवस्था, क्रम, समन्वय, नियम तथा विधान दिखायी देता है, वह अचेतन प्रधान द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता इसके लिए चेतन कारण की ही आवश्यकता होती है। ईश्वर से अधिष्ठित अनादि त्रिगुणात्मक माया जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकती।

1.3 'प्रवृत्तेश्चानुपत्तेर्नानुमानम्'

सूत्रार्थ को स्पष्ट करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि अचेतन प्रधान की साम्यावस्था की प्रच्युतिरूप प्रवृत्ति चेतन के बिना उत्पन्न नहीं हो सकती अतः प्रधान जगत का कारण नहीं हो सकता अर्थात् प्रवृत्ति की अनुपत्ति होने से प्रधान जगत का कारण नहीं है। गुणों की प्रवृत्ति चेतनाधिष्ठान पूर्वक होती है, क्योंकि रथादि प्रवृत्ति के समान यह भी प्रवृत्ति है। दृष्ट के आधार पर अदृष्ट की सिद्धि की जाती है। यदि यह कहा जाएँ कि जो प्रवर्तक है, वह स्वरूप से प्रवृत्तिमान है, जैसे अश्वादि। इस प्रकार आत्मा में व्यापक प्रवृत्ति भाव के न होने से व्याप्त प्रवर्तकत्व भी नहीं है अर्थात् आत्मा प्रवृत्तिरहित होने से प्रवर्तक नहीं है। अतः यह कहा जा सकता है कि अचेतन की प्रवृत्ति चेतन से न होकर स्वयं अपनी है। इसके समाधान के लिए वेदान्ती कहते हैं जो प्रवर्तक होता है उसके लिए कोई आवश्यक नहीं है कि वह भी प्रवृत्ति युक्त हो। इस व्याप्ति का अयस्कान्तिमणि एवं रूप में व्यभिचार है। अयस्कांतमणि (लौह चुम्बक) प्रवृत्तियुक्त न होते हुए भी प्रवर्तक होता है। रूप प्रवृत्ति युक्त न होते हुए भी चक्षुओं को प्रेरित करता है। अतः ईश्वर प्रवृत्ति युक्त न होते हुए भी माया को प्रेरित करता है।

1.4 'पयोम्बुवच्चेत्त्त्रापि'

सूत्र द्वारा शंकराचार्य यह दिखाते हैं कि जिस प्रकार अचेतन दूध स्वभाव से ही बछड़े के लिए प्रवृत्त होता है और जिस प्रकार अचेतन जल स्वभाव से ही लोगों के लिए बहता रहता है, उसी प्रकार प्रधान जड़ होते हुए भी प्रवृत्तिमान होकर सृष्टि का कार्य करता है। शंकराचार्य एवं उनके अनुयायी वेदान्तियों का यह कहना है कि सांख्यमत का कथन ठीक नहीं क्योंकि चेतन अधिष्ठित दूध और जल में ही प्रवृत्ति होती है ऐसा हम अनुमान करते हैं। दूध और जल में स्वतः प्रवृत्ति नहीं देखी जाती है। चेतन धेनु की स्नेहेच्छा से दूध प्रवृत्त हो सकता है तथा बछड़े के चूसने से दूध खिंच जाता है। जल के बहने में भी किसी की अपेक्षा नहीं है क्योंकि उसे बहने के लिए नीची भूमि आदि की अपेक्षा है। इस प्रकार चेतन की अपेक्षा सर्वत्र दिखायी देती है। 'उपसंहारदर्शन्नेति चेन्नक्षीरवद्धि' इस सूत्र में वाह्य निमित्त की अपेक्षा के बिना भी स्वाश्रय कार्य होता है, ऐसा लोकदृष्टि से दिखाया गया है। शास्त्र दृष्टि से सर्वत्र ईश्वर की की अपेक्षा होती है। इसका अपलाप नहीं

किया जा सकता। अतः दूध और जल का जो दृष्टान्त सांख्य ने दिया है वह प्रधान कारणवाद की स्थापना न करके चैतन्य कारणवाद की स्थापना करता है।

1.5 'व्यतिरेकानवस्थितेश्चानपेक्षत्वात्'

सूत्र द्वारा शंकराचार्य ने यह बताया है कि प्रधान से भिन्न कर्म आदि सहकारी न होने से और पुरुष के असंग होने के कारण अचेतन प्रधान जगत का कारण नहीं हो सकता। शंकराचार्य सांख्य के मत का उल्लेख करते हुए यह कहते हैं कि सत्व, रज और तम इन तीनों की साम्यवास्था को ही प्रकृति कहा जाता है, उससे भिन्न प्रधान का प्रवर्तक अथवा निवर्तक अन्य वाह्य तत्व नहीं है। यदि यह कहा जाएँ कि बहुत से पुरुषों का अस्तित्व है जो प्रकृति को प्रवर्तित करते हैं तो यह ठीक नहीं है। पुरुष तो असंग एवं उदासीन है। वह प्रकृति का न तो प्रवर्तक है और न निवर्तक है। वास्तविकता यह है कि ईश्वर जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और महामायामय है वह प्रकृति की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का कारण हो सकता है।

1.6 'अन्यच्चभावाच्च न तृणादिवत्'

सूत्र के द्वारा शंकराचार्य सांख्य मत के पूर्व पक्ष को रखते हुए कहते हैं कि सांख्य मानता है कि जिस प्रकार तृण, पल्लव, जल आदि अन्य निमित्त की अपेक्षा के बिना स्वभाव से ही दूध आदि के रूप में परिणत हो जाते हैं उसी प्रकार प्रधान भी महत आदि के रूप में परिणत हो जाएगा और तृण आदि निमित्त की अपेक्षा नहीं रखते, यह कैसे जानते हो? इससे कि अन्य निमित्त का दर्शन नहीं होता। यदि हम अन्य निमित्त प्राप्त कर सकते हैं तो उसके द्वारा इच्छानुसार तृण आदि लेकर दूध आदि का सम्पादन कर सकते हैं किन्तु हम ऐसा सम्पादन नहीं कर सकते। इसलिए तृण आदि का परिणाम स्वभाविक है, उसी प्रकार प्रधान का भी परिणाम है।

अद्वैत वेदान्ती इस पर कहते हैं कि तृण आदि का परिणाम स्वाभाविक माना जाता तो तृण आदि के समान प्रधान का भी परिणाम स्वभाविक माना जाता। परन्तु तृण आदि का स्वाभाविक परिणाम नहीं माना जाता, क्योंकि अन्य निमित्त उपलब्ध है। अन्य निमित्त किस प्रकार उपलब्ध है, क्योंकि अन्यत्र अभाव है, कारण कि धेनु से ही उपयुक्त तृण आदि दूध के रूप में परिणत नहीं होते । यदि इनमें कोई निमित्त न हो तो धेनु के शरीर सम्बन्ध से अन्यत्र भी तृण आदि दूध बन जाएँ और मनुष्य उसे अपनी इच्छानुसार उसको बना ही नहीं सकते, इतने से ही दूध निमित्त रहित नहीं होता, क्योंकि कि कितने ही कार्य मनुष्य से सम्पादन किए जा सकते हैं और कितने दैव से। मनुष्य भी उचित उपाय से तृण आदि का ग्रहण करके दूध का सम्पादन कर ही सकते हैं, क्योंकि पुष्कल दूध की कामना करने वाले पुरुष धेनु को पुष्कल घास चराते हैं और उससे पुष्कल दूध प्राप्त करते हैं। इसलिए तृण आदि के समान प्रधान का परिणाम स्वाभाविक है। इस प्रकार स्पष्ट है कि जिस प्रकार दूध तृण का परिणाम नहीं है उसी प्रकार जगत प्रधान का स्वाभाविक परिणाम नहीं हो सकता।

1.7 'अभ्युपगमेंप्यर्थाभावात्'

सूत्र द्वारा शंकराचार्य यह दिखाते हैं कि यदि प्राक्कल्पना रूप में प्रधान की स्वतः प्रवृत्ति मान भी ली जाएँ तो इससे दोष का निराकरण नहीं होगा क्योंकि प्रकृति या प्रधान का कोई प्रयोजन नहीं हो सकता। प्रधान की प्रवृत्ति स्वाभाविक नहीं हो सकती, क्योंकि इससे सांख्य का यह कथन कि प्रधान प्रकृति पुरूष के भोग और मोक्ष के लिए प्रवृत्त होता है अयथार्थ हो जाएगा। इससे सिद्ध हुआ कि प्रधान का कोई प्रयोजन अवश्य है। यह प्रयोजन या तो भोग होगा या मोक्ष होगा अथवा भोग और मोक्ष दोनों होगा। यदि भोग को प्रयोजन मान लिया जाय, तो प्रवृत्ति के पूर्व भी मोक्ष के सिद्ध होने से प्रवृत्ति निष्फल होगी तथा शब्दाब्दि की अनुपलब्धि का प्रसंग उलब्ध हो जाएगा। दोनों को प्रयोजन मानने पर भोग के योग्य प्रधान तन्मात्राओं के अनन्त होने से मोक्ष के अभाव का प्रसंग आ जाएगा। उत्सुकता की निवृत्ति के लिए भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि अचेतन प्रधान में उत्सुकता संभव नहीं है और निर्मल, निष्कल पुरूष में ही उत्सुकता नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाएँ कि पुरुष में द्रष्टा शक्ति की स्वाभाविक योग्यता है तथा प्रधान में समर्थन शक्ति की स्वाभाविक योग्यता है। अतः उसके भीतर इन क्रियाओं के लिए स्वाभाविक प्रवृत्ति है, तो दृक् शक्ति के अनुच्छेद (नित्य) के समान सर्ग शक्ति के नित्य होने के कारण मोक्ष के अभाव का प्रसंग उपस्थित न होगा। अतः प्रत्येक दृष्टि से यही सिद्ध होता है कि प्रधान के भीतर उ्देश्यमूलक प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

1.8 'पुरुषाश्वभवदिति चेत्तथापि'

सूत्र द्वारा शंकराचार्य ने यह स्पष्ट दिखाया है कि जैसे दृक शक्ति सम्पन्न किन्तु प्रवृत्ति गमन शक्ति रहित कोई पंगु पुरुष तथा प्रवृत्ति गमन शक्ति सम्पन्न किन्तु दृकशक्तिरहित अन्य अन्ध पुरुष के कन्धे पर बैठकर उसे प्रवृत्त करता है अथवा जैसे अयस्कान्तमणि स्वयं अप्रवृत्त होते हुए भी लोहे को प्रवृत्त करता है उसी प्रकार पुरुष भी प्रधान को सृष्टि के लिए प्रवृत्त करता है, ऐसा सांख्य कहता है। परन्तु सांख्य द्वारा इस प्रकार का कथन दोषपूर्ण है। इस प्रकार के कथन में प्रथम दोष यह है कि इसमें प्रधान की स्वतंत्र प्रवृत्ति होती है, इसे अस्वीकार किया गया है। द्वितीय दोष यह है कि यदि पुरुष उदासीन है तो वह प्रधान को किस प्रकार प्रवृत्त कर सकता है? पंगु पुरुष भी अन्ध पुरुष को वाणी से प्रवृत्त करता है, पर यहां निष्क्रिय और निर्गुण पुरुष में कोई प्रवृत्ति जनक व्यापार नहीं है। प्रकृति भी चेतन नहीं है, जो पुरुष के निर्देश को समझ कर व्यापार करे। तृतीय हम यह भी नहीं कह सकते कि जिस प्रकार अयस्कान्तमणि सन्निधि मात्र से लोहे को प्रवृत्त करता है उसी प्रकार पुरुष भी केवल सन्निधि मात्र से ही प्रधान को प्रवृत्त करता है, क्योंकि यदि सन्निधि नित्य है तो सृष्टि भी नित्य हो जाएँगी और मोक्ष असंभव हो जाएगा। इसमें एक अन्य दोष यह भी है उत्पन्न हो जाता है कि अयस्कान्तमणि एवं पंगु पुरुष की उपमा ठीक नहीं है। चतुर्थ दोष यह है कि प्रधान को अचेतन और पुरुष को उदासीन मानने के कारण दोनों के बीच सम्बन्ध कराने वाले तीसरे तत्व के अभाव के कारण सम्बन्ध की अनुपपत्ति होगी। पंचम दोष यह है कि यदि उनकी योग्यता निमित्तक सम्बन्ध स्वीकार करें तो योग्यता के नित्य होने से मोक्षाभाव प्रसंग उपस्थित हो जाएगा। अतः सांख्य दर्शन के पुरुष की अपेक्षा मायाशक्ति सम्पन्न ईश्वर कहीं श्रेयस्कर है क्योंकि ईश्वर स्वरूप से उदासीन, किन्तु माया के आश्रय से प्रवर्तक है।

1.9 'अंगित्वानुपपत्तेश्च'

सूत्र के द्वारा शंकराचार्य यह दिखाते हैं कि गुणों के अंगांगिभाव की अनुपपत्ति से भी प्रधान की प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। 'गुणानां साम्यावस्था प्रकृतिः' अर्थात् गुणों की साम्यावस्था प्रकृति है। गुणों के भीतर दो प्रकार के परिणाम होते हैं—प्रथम स्वरूप परिणाम और दूसरा विरूप परिणाम। सरूप परिणाम में सभी गुण स्वतंत्र रूप से कार्य करते हैं और उनके बीच आंगांगिभाव संबंध नहीं होता। अतः ऐसी स्थिति में सृष्टि की प्रक्रिया प्रारम्भ ही नहीं हो सकती। प्रधान के अतिरिक्त ऐसा कोई वाह्य तत्व भी नहीं है, जो गुणों के भीतर क्षोभ उत्पन्न कर विरूप परिणाम को संभव बना सके।

1.10 'अन्यथानुमित्तौ च ज्ञ शाक्तिवियोगात्'

सूत्र द्वारा शंकराचार्य यह दिखाते हैं कि गुणों के गतिशील एवं सक्रिय होने के कारण यदि मान भी लिया जाएँ कि साम्यावस्था में भी उनमें गुण वैषम्य की प्राप्ति हो सकती है तथा अंगांगि सम्बन्ध की भी स्थापना की जा सकती है, किन्तु ऐसा अनुभाव करने पर भी प्रधान में ज्ञान शक्ति का अभाव होने से रचनानुपपत्ति दोष पूर्ववत रह जाता है। यदि सांख्य यह कहे कि नहीं, प्रधान में ज्ञानशक्ति पायी जाती है, तो इसका अर्थ यह होगा कि 'चेतनमेंकनेक प्रपंचस्य जगत् उपादानमिति ब्रह्मवाद प्रसंगात्' अर्थातृ एक ब्रह्म से प्रपंच या जगत उत्पन्न हो सकता है। यदि बिना पर्याप्त कारण के बिना ही वैषम्य की प्राप्ति मानी जाय तो सृष्टि नित्य हो जाएँगी और मोक्ष का प्रसंग नहीं होगा।

1.11 'विप्रतिषेधाच्चासामंजसम्'

सूत्र द्वारा शंकराचार्य यह स्पष्ट करते हैं कि सांख्य मत के समर्थक कभी सात इन्द्रियों का वर्णन करते हैं कभी ग्यारह इन्द्रियों का वर्णन करते हैं। इस प्रकार सांख्य लोग कहीं महद् से तन्मात्राओं की उत्पत्ति मानते हैं तो कहीं अहंकार से। कभी तो वे तीन प्रकार के इन्द्रियों की चर्चा करते हैं और कभी केवल एक की। वे श्रुतियों की भी अवहेलना करते हैं जो बताती है कि ईश्वर ही जगत का कारण है, प्रधान जगत का कारण नहीं है।

1.12. निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि सांख्य मत में परस्पर विरोधी सिद्धान्तों की स्थापना के कारण एक सुसंगत दर्शन के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। शंकराचार्य ने सांख्य मत के खण्डन में बहुत प्रयत्न किया। वे कहते हैं कि 'तत्प्रतिषेधेयत्नोऽतीवकृतः'। अब प्रश्न यह उठता है कि सांख्य के खण्डन में उन्होंने इतना यत्न क्यों किया? इसके उत्तर में वे तीन तर्क देते हैं – (1) मन्द मतियों को वेदान्त में सांख्य के कुछ पोषक चिन्ह के संकेत मिलते हैं। (2) सांख्य कारण एवं कार्य का अभेद स्वीकार करता है, अतः वह वेदान्त के अधिक निकट है एवं (3) देवल आदि कुछ धर्मसूत्रकारों ने सांख्य को अपने ग्रन्थों में स्वीकार किया है। इन कारणों से शंकराचार्य ने सांख्य का जितना खण्डन किया है उतना वैशेषिक का नहीं किया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि शंकराचार्य ने ईश्वरकृष्ण

की सांख्यकारिका से ही उद्धरण देकर सांख्य का खण्डन किया है। कुछ भी हो यह स्पष्ट है कि शंकराचार्य ने सांख्य का उसी प्रकार खण्डन किया है जिस प्रकार निरीश्वरवादी या अज्ञेयवादी का किये है।

प्रश्नावली

लघु उत्तरीय प्रश्न–

1. सांख्य के कारणवाद का शंकराचार्य ने खण्डन कैसे किया?
2. शंकराचार्य द्वारा सांख्य की आलोचना कैसे की गयी है?
3. 'पुरूषाश्वभवदिति चेत्तथापि' को स्पष्ट करें।
4. 'अंगित्वानुपदत्तेश्च' सूत्र को समझाइए।
5. 'अन्याच्चभावाच्च न तृणादिवत्' को स्पष्ट करें।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न–

1. शंकराचार्य द्वारा सांख्यमत की आलोचना पर एक निबन्ध लिखिए।
2. सांख्य की आलोचना में प्रयुक्त प्रमुख सिद्धांतो की व्याख्या करें।

****

इकाई–2

शंकराचार्य द्वारा वैशेषिक की आलोचना

संरचना

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 'महददीर्घवद्वाहृस्वपरिण्डलाभ्याम्'

2.3 'उभयाथापि न कर्मातस्तद्भावः'

2.4 'समवायाभ्युपगमाच्चसाम्यादनवस्थितेः'

2.5 'नित्यमेंव च भावात्'

2.6 'रूपादिमत्वाच्च विपर्ययो दर्शनात्'

2.7 'उभय था च दोषात्'

2.8 'अपरिग्रहाच्चचात्यन्तमनपेक्षा'

2.9 वैशेषिक दर्शन का पदार्थों का खण्डन

2.10 निष्कर्ष

2.0 उद्देश्य

शंकराचार्य ने वैशेषिक मत के परमाणुकारणवाद का और पदार्थों का सशक्त रूप में खण्डन किया है। परमाणु जगत्कारण नहीं हो सकते। परमाणुओं से जगत् सृष्टि नहीं हो सकती। शंकराचार्य वैशेषिक के पदार्थों का खण्डन करते हुए कहते हैं कि षट् पदार्थों का वर्गीकरण दोषपूर्ण है। शंकराचार्य का कहना है कि एक ओर वैशेषिक मत में पदार्थों को पृथक् एवं स्वतंत्रत माना गया है तथा दूसरी ओर गुण, कर्म आदि को द्रव्याश्रित माना गया है। शंकराचार्य का यह भी कहना है कि वैशेषिक के नौ द्रव्यों में भी वस्तुतः स्वतंत्र सत् आत्मा ही हो सकती है। किन्तु आत्मा शुद्ध चैतन्य स्वरूप ज्ञाता या द्रष्टा है, जो द्रव्य पदार्थ या विषय नहीं हो सकता। वस्तुतः वैशेषिक आत्मा को जड़ द्रव्य के रूप में स्वीकार करता है और ज्ञान और आनन्द को उसके आगन्तुक गुण मानता है। इस प्रकार वैशेषिक के 'पदार्थ' केवल कल्पना होने के कारण हेय है।

2.1 प्रस्तावना

शंकराचार्य का अद्वैत वेदान्त अद्वयवादी होने के कारण वैशेषिक दर्शन के परमाणुवाद तथा अनेक पदार्थवाद का खण्डन करता है। शंकराचार्य यह दिखाने की कोशिश की है कि वैशेषिकों के परमाणुओं की धारणा सदोष है एवं परमाणुओं के संयोग भी सामान्य बुद्धि के समझ के परे है। सामान्यतः प्रदेशवान् वस्तुओं का वैसी

ही वस्तुओं से संयोग देखा गया है। परन्तु यदि परमाणुओं में प्रदेश माने जाएँ तो वह सावयव और विभाज्य बन जाएँगे और यदि परमाणुओं को निरवयव और अविभाज्य मान लिया जाएँ जो सृष्टि की व्याख्या संभव नहीं होगी। वैशेषिक दर्शन में सृष्टि की उत्पत्ति अचेतन परमाणुओं से मानी गयी है। संसार के सभी कार्य द्रव्य चार प्रकार के परमाणुओं (पृथ्वी, जल, तेज (अग्नि) और वायु से बनते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वर जीव के कर्मों (अदृष्ट) के अनुसार कर्मफल का भोग कराने के लिए परमाणुओं की क्रियाओं को प्रवर्तित करता हैं उसी की इच्छा से सृष्टि और प्रलय होते हैं। परमाणुओं में गति उत्पन्न होने पर उनके बीच संयोग स्थापित होता है। परमाणु सूक्ष्म और परिमण्डल होते हैं। दो ऐसे परमाणुओं के संयोग से द्वयणुक का निर्माण होता है, जो सूक्ष्म और परिमण्डल न होकर अणु और ह्रस्व परिमाण वाले होते हैं। इसी प्रकार ऐसे तीन द्वयणुकों से मिलकर त्र्यणुक का निर्माण होता है, जो अणु और ह्रस्व परिमाण वाले न होकर महत् और दीर्घ परिमाण वाले होते हैं। त्रयणुक ही हमारे प्रत्यक्ष विषय होते हैं क्योंकि अद्भुत रूप और महत् परिणाम दोनों पाया जाता है। जो प्रत्यक्ष के लिए अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त वैशेषिक दर्शन का एक महत्वपूर्ण सिद्धांत यह है कि कारण द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से विद्यमान गुण कार्य द्रव्य में समानजातीय अन्य गुणों को उत्पन्न करते हैं 'कारणद्रव्यसमवायिनो गुणाः कार्य द्रव्ये समानजातीय गुणानतरमारम्भते'। अतएव शुक्ल तन्तुओं से शुक्ल वस्त्र की ही उत्पत्ति देखने में मिलती है विरुद्ध रंग वाला वस्त्र उत्पन्न होता नहीं दिखायी देता। वैशेषिक दर्शन इन्हीं सभी नियमों के आधार पर कार्य जगत की उत्पत्ति को संभव मानता है। शंकराचार्य वैशेषिक दर्शन के परमाणुओं से सृष्टि की उत्पत्ति को अयुक्तिसंगत मानते हुए कहते हैं कि अचेतन परमाणुओं से चेतन जगत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि यदि कार्यरूप चैतन्य युक्त है तो उसका कारण भी कोई चेतन सत्ता होनी चाहिए। शंकराचार्य ने निम्न तर्कों के आधार पर वैशेषिक दर्शन के परमाणुवाद का खण्डन करते हैं –

2.2 'महददीर्घवद्वाह्रस्वपरिण्डलाभ्याम्'

इस सूत्र के द्वारा वेदान्ती यह स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं कि वैशेषिक दर्शन का यह मानना है कि कारण–द्रव्य के गुण कार्य द्रव्य में संचारित हो जाते हैं और अदृष्ट आदि कारण में युक्त होकर द्विअणुक आदि के क्रम से समस्त कार्य समूह का आरम्भ करते हैं। किन्तु परमाणु सूक्ष्म और परिमण्डल है पर द्वयणुक आणविक एवं ह्रस्व है तथा त्रयणुक महत् और दीर्घ है। अतएव किस प्रकार यह कहा जा सकता है कि कारण के गुण कार्य में संचरित हो जाते हैं? जिस प्रकार परिमण्डल परमाणु से अणु और ह्रस्व द्वयणुक उत्पन्न होता है तथा उनसे महत् और दीर्घ त्रयणुक उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार यदि चेतन द्रव्य से अचेतन द्रव्य की उत्पत्ति होती है तो इसमें क्या हानि है? यदि वैशेषिक लोग यह कहें कि द्रयणुक आदि कार्य–द्रव्य विरोधी परिणामों (अणुत्व व ह्रस्वत्व) से आक्रान्त है, इस कारण परिमण्डल परमाणुओं को इनका आरम्भक नहीं माना जा सकता। परन्तु जगत चेतना विरोधी गुणों से आक्रान्त नहीं है, क्योंकि अचैतन्य चैतन्य का विरोधी गुण न होकर चैतन्य का ही अभाव है। अतः ऐसी स्थिति में चेतन ब्रह्म से चेतन जगत की उत्पत्ति को क्यों न माना जाए? चेतन ब्रह्म को चेतन जगत् की उत्पत्ति से कौन रोकता है? इस प्रश्न के उत्तर में वेदानती कहते हैं कि ''जिस प्रकार कारण में विद्यमान परिमण्डल्य अणु एवं ह्रस्व परिमाण होते हुए भी जगत् का कारण नहीं है।'' वास्तविकता यह है कि परिमाण्डल्यादि के अनारम्भकत्व में अन्य परिणाम से

आक्रान्त होना कारण नहीं है, क्योंकि अन्य परिमाण (अणुत्व एवं ह्रस्वत्व) के आरम्भ के पूर्व परिमण्डल्यादि आरम्भक हो सकते हैं। इसका कारण यह है कि वैशेषिक दर्शन के अनुसार आरब्ध भी कार्यद्रव्य गुणों को आरम्भ के पूर्व क्षणमात्र गुण रहित होता है– 'उत्पन्नं द्रव्यं क्षणं निर्गुणं निष्क्रियं च तिष्ठति'। वैशेषिक सूत्र में कहा गया है कि– 'कारणबहुत्वात्कारण महत्वात्प्रचयविशेषाच्च महत्' अर्थात् कारण के अनेक होने से कारण के महत्व से तथा अवयवों के संयोग विशेष से महत् परिणाम उत्पन्न होता है। वेदान्तियों का कहना है कि परिमण्डल्यादि अन्य परिमाण का आरम्भ नहीं करते, यह कथन ठीक नहीं है। वस्तुतः किसी सन्निधान विशेष से कारण बहुत्व आदि आरम्भ होते हैं। पारिमण्डल्यादि आरम्भक नहीं होते हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि 'अन्य द्रव्य या अन्य गुणों के आरम्भ करने में सब कारण गुणों का स्वाश्रय समवाय समान है।'' इसलिए स्वभाव से परिमाण्डल्यादि अनारम्भक हैं, वैसे चेतना भी अनारम्भक है, ऐसा समझना चाहिए।

2.3 'उभयाथापि न कर्मातस्तद्भावः'

सूत्र के द्वारा वेदान्ती यह दिखाते हैं कि व्यवहार में यह देखा जाता है कि पट आदि सावयव द्रव्य अपने अनुकूल संयोग सहित तन्तु आदि द्रव्यों से उत्पन्न होते हैं। इस उद्धरण से प्रतीत होता है कि कोई सावयव अवयवी द्रव्य है, वे सब अपने अनुकूल संयोगयुक्त तत्–तत् द्रव्यों से ही उत्पन्न होते हैं। यह अवयवावयर्विभाग, अवयव और अवयवी का विश्लेषण जहां से निवृत्त होता है उस न्यून परिणाम की सीमा को परमाणु कहते हैं। वैशेषिक दर्शन में परमाणु को जगत् का कारण माना गया है और पृथ्वी तेज, जल तथा वायु इन चार भूतों को सावयव देखकर चार प्रकार का परमाणुओं की कल्पना की जाती है। वे न्यूनता की परम सीमा है। उनसे आगे विभाग न संभव होने के कारण नाशशील पृथ्वी आदि का परमाणु पर्यन्त विभाग होता है। परमाणु पर्यन्त विभाग होना ही प्रलय है। फिर सृष्टि के समय वायवीय परमाणुओं में अदृष्ट वश कर्म उत्पन्न होता है। वह कर्म जिस परमाणु में होता है उसका दूसरे परमाणु से संयोग होता है। तत्पश्चात् द्विअणुक आदि के क्रम से वायु की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार अग्नि, जल और पृथ्वी की उत्पत्ति होती है, और इसी प्रकार इन्द्रिय सहित शरीर उत्पन्न होता है। इस प्रकार यह सम्पूर्ण जगत् अणुओं से उत्पन्न होता है, जैसे तन्तुओं के रूप से वस्त्र में रूप उत्पन्न होता है, वैसे ही अणु में रहने वाले रूप आदि से द्वि अणुकगत रूप आदि होते हैं। ऐसा वैशेषिकों का सिद्धांत है।

वैशेषिकों के सिद्धांत के विरुद्ध वेदान्ती यह कहते हैं कि विभाग की अवस्था में स्थित परमाणुओं का संयोग किसी कर्म की अपेक्षा करता है, यह मानना पड़ेगा क्योंकि कर्मयुक्त तन्तु आदि में संयोग दिखायी देता है। कर्म कार्य है, इसलिए उसका कोई निमित्त मानना पड़ेगा। यदि निमित्त को स्वीकार न किया जाएँ, तो निमित्त के अभाव में अणुओं में आद्यकर्म नहीं होगा। यदि निमित्त को स्वीकार करें भी तो जैसे व्यवहार में कर्म का निमित्त प्रयत्न या अभिघात दिखायी देता है, वैसे ही अणु के कर्म का कोई निमित्त मानना पड़ेगा। उसका निमित्त कारण न संभव होने से अणुओं में आद्य कर्म नहीं होगा। सृष्टि से पूर्व आत्मगुण प्रयत्न नहीं हो सकता, क्योंकि उस समय शरीर ही नहीं रहता। शरीर में रहने वाले मन में आत्मा का संयोग होने पर आत्मा का गुण प्रयत्न होता है। इस कथन से अभिज्ञात आदि इष्ट निमित्त का भी प्रत्याख्यान हो गया, क्योंकि वे सब सृष्टि के अनन्तर ही संभव है। अतः वे आदि कर्म के निमित्त नहीं हो सकते। यदि आद्य कर्म का निमित्त अदृष्ट है तो प्रश्न होता है कि वह कर्म आत्मा में समवाय सम्बन्ध से

रहने वाला है या अणुओं में से रहने वाला है। दोनों ही रूप में अणुओं में अदृष्ट निमित्त कर्म की कल्पना नहीं हो, क्योंकि अदृष्ट अचेतन है। चेतन से अधिष्ठित हुए बिना अचेतन न तो स्वतंत्र रूप से प्रवृत्त हो सकता है और न किसी को प्रवृत्त कर सकता है– ऐसा सांख्य प्रक्रिया में कहा गया है। चैतन्य के न उत्पन्न होने से आत्मा भी उसी अवस्था में चैतन्य ही है।

अद्वैत वेदान्तियों का यह कहना है कि 'अदृष्ट' आत्मा में समवाय सम्बन्ध से रहता है, ऐसा स्वीकृत होने से वह अणुओं में कर्म का निमित्त नहीं होगा, क्योंकि अदृष्ट से उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं है। अदृष्ट वाले पुरुष के साथ अणुओं का सम्बन्ध है, ऐसा यदि कहो तो सम्बन्ध के सदा होने से निरन्तर प्रवृत्ति होने लगेगी, क्योंकि कोई अन्य नियामक नहीं हैं इस प्रकार कोई भी कर्म का नियत निमित्त नहीं हैं। अतः अणुओं में आद्य कर्म नहीं होगा।

अद्वैत वेदान्तियों का यह भी कहना है कि कर्म के अभाव में कर्म से होने वाला संयोग नहीं होगा और संयोग के अभाव से उसके आधार पर होने वाले द्वि–अणुक कार्य नहीं होंगे और एक अणु का अन्य अणु से संयोग सर्वात्मना होगा या एक देश से होगा? सर्वात्मना होगा, तो उपचय की अनुपपत्ति से अणुमात्रत्व का प्रसंग उपस्थित होगा और जैसा कि देखने में आता है, उससे विपरीत का प्रसंग उपस्थित होगा, क्योंकि प्रदेश वाले द्रव्य का प्रदेश वाले अन्य द्रव्य के साथ संयोग देखा जाता है, और एक देश तो होगा तो सावयव का प्रसंग उपस्थित हो जाएगा। परमाणुओं के कल्पित प्रदेश होंगे– ऐसा कहोगे तो कल्पित अवस्तु होने से संयोग अवस्तु रूप होगा। इससे वस्तु रूप कार्य का असमवायी कारण नहीं होगा और असमवायी कारण न होने से द्वि अणुक कार्य द्रव्य उत्पन्न न होंगे और जैसे आदि सृष्टि में निमित्त के अभाव से संयोग की उत्पत्ति के लिए अणुओं में कर्म नहीं हो सकता वैसे ही महाप्रलय में भी विभाग की उत्पत्ति के लिए अणुओं में कर्म न होगा, क्योंकि उसमें भी उसका कुछ नियत निमित्त देखने में नहीं आता। अदृष्ट भी भोग की प्रसिद्धि के लिए है, प्रलय की प्रसिद्धि के लिए नहीं है इसलिए निमित्त के अभाव से अणुओं में संयोग की उत्पत्ति के अर्थ और विभाग की उत्पत्ति के अर्थ में कर्म नहीं होगा। अतएव संयोग एवं विभाग के अभाव से उनके आधार पर होने वाले सर्ग और प्रलय का अभाव हो जाएगा। इस प्रकार वैशेषिक का परमाणुवाद अनुपपन्न है।

2.4 'समवायाभ्युपगमाच्चसाम्यादनवस्थितेः'

सूत्र के द्वारा शंकराचार्य तथा उनके समर्थकों ने यह दिखाया है कि वैशेषिक का परमाणु कारणवाद अनुपपन्न है। इस सूत्र में शंकराचार्य ने यह दिखाया है कि वैशेषिकों द्वारा समवाय को स्वीकार करने से भी सृष्टि और प्रलय का अभाव सिद्ध होता है। शंकराचार्य का यह मानना है कि इसका प्रकृत अणुवाद के निराकरण के साथ सम्बन्ध है। दो अणुओं से उत्पन्न होने वाला द्वि–अणुक अणुओं से अत्यन्त भिन्न है और अणुओं में समवेत है, ऐसा तुम स्वीकार करते हो। परन्तु ऐसा स्वीकार करते हुए तुम अणुकारणता को समर्थन नहीं करते। किससे? साम्य से और अनवस्थिति से। जिस प्रकार दो अणुओं से अत्यन्त भिन्न होकर द्वि–अणुक समवाय लक्षण सम्बन्ध से उनके साथ सम्बन्ध होता है उसी प्रकार समवाय भी समवायियों से अत्यन्त भिन्न होकर समवाय लक्षण अन्य सम्बन्ध से ही समवायियों के साथ सम्बद्ध होगा, क्योंकि (दोनों में) अत्यन्त भेद रूपी साम्य है और तदनन्तर उस समवाय के अन्य–अन्य सम्बन्ध की कल्पना करनी पड़ेगी। इस प्रकार

अनवस्था की प्राप्ति होगी। परन्तु यहां पर इस प्रतीति से ग्रहण करने योग्य समवाय समवायियों के साथ–साथ नित्य सम्बन्ध ही गृहीत होता है, असम्बद्ध या अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा वाला नहीं है। इसलिए उसके लिए अन्य सम्बन्ध की कल्पना युक्त नहीं है, जिससे अनवस्था प्रसंग उपस्थित हो, ऐसी शंका करोगे तो हम कहते हैं कि नहीं, क्योंकि ऐसी परिस्थिति में संयोग भी संयोगियों के साथ नित्य सम्बद्ध ही है। इसलिए समवाय के समान उसको अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा रखे तो समवाय भी अन्य अर्थ होने से अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा रखेगा। गुण होने से संयोग अन्य सम्बन्ध की अपेक्षा रखता है। परन्तु अणुक होने से समवाय अपेक्षा नहीं रखता, ऐसा कहना युक्त नहीं है, क्योंकि दोनों में अपेक्षा का कारण समान है और गुण परिभाषया अतन्त्र है। इसलिए समवाय को अन्य अर्थ रूप स्वीकार करने वाले वैशेषिक को अनवस्था प्राप्त होगी ही और अनवस्था के प्राप्त होने पर एक ही असिद्धि से सब असिद्ध होने से दो अणुओं से द्वयणुक उत्पन्न होगा ही नहीं। इसलिए भी परमाणु कारणवाद अनुपपन्न है।

2.5 'नित्यमेंव च भावात्'

सूत्र द्वारा अद्वैत वेदान्ती शंकराचार्य वैशेषिक दर्शन के परमाणुवाद के सम्बन्ध में यह दिखाते हैं कि परमाणु अणु प्रवृत्ति स्वभाव वाले माने जाते हैं या निवृत्ति स्वभाव वाले माने जाते हैं या उभय स्वभाव वाले माने जाते हैं या अनुभय स्वभाव वाले माने जाते हैं क्योंकि इनमें अन्य गति का अभाव है। चारों प्रकार से भी प्रवृत्ति उपत्ति नहीं होती। यदि उन्हें प्रवृत्ति स्वभाव वाले मानें तो नित्य ही प्रवृत्ति होने से प्रलय के अभाव का प्रसंग आएगा। यदि निवृत्ति स्वभाव वाले मानें तो नित्य ही निवृत्ति होने से सृष्टि के अभाव का प्रसंग आएगा। उभय स्वरूप होना तो विरोध से ही अनुपपन्न है। यदि अनुभव स्वभाव में मानें तो उनकी प्रवृत्ति और निवृत्ति निमित्तवश मानी जाती है। इसलिए अदृष्ट आदि निमित्त के नित्य सन्निहित होने से नित्य प्रवृत्ति का प्रसंग आएगा। अदृष्ट आदि अतंत्र हों, तो भी नित्य अप्रवृत्ति का प्रसंग उपस्थित रहेगा। इससे भी परमाणु कारणवाद अनुपपन्न है।

2.6 'रूपादिमत्वाच्च विपर्ययो दर्शनात्'

सूत्र द्वारा यह दिखाते हैं कि अवयवशः विभक्त होने वाले सावयव द्रव्यों का जहां से आगे विभाग नहीं हो सकता है वे चार प्रकार के रूप आदि युक्त परमाणु भूत–भौतिक के आरम्भक हैं और नित्य हैं, ऐसा वैशेषिक स्वीकार करते हैं। परन्तु वैशेषिकों द्वारा ऐसा मानना निराधार ही है, क्योंकि रूप आदि से युक्त होने से परमाणुओं के अणुत्व एवं नित्यत्व के विपर्यय की प्राप्ति होगी। परम कारण की अपेक्षा से वे स्थूल और नित्य हैं। इस प्रकार उनके अभिप्राय से विपरीत की प्राप्ति होगी, ऐसा अर्थ है। पुनश्च शंकराचार्य यह स्पष्ट करते हैं कि लोक में इस प्रकार देखने में आता है कि लोक में जो रूपादि युक्त वस्तु है वह अपने कारण की अपेक्षा से स्थूल और अनित्य दिखायी देती है, जैसे पट तन्तुओं की अपेक्षा से स्थूल और अनित्य है इसी प्रकार ये परमाणु रूपादि युक्त हैं, ऐसा वे स्वीकार करते हैं। इसलिए कारण वाले होने से वे कारण की अपेक्षा स्थूल और अनित्य हैं, ऐसा प्राप्त होता है और परमाणुओं में नित्यत्व सिद्ध करने के लिए उन्होंने जो प्रमाण दिये हैं, वह इस प्रकार है –

(1) सत् अकारण वाला नित्य है, वह भी ऐसा होने से अर्थात् परमाणुओं के कारण होने से अणुओं में संभव नहीं है क्योंकि उक्त प्रकार से वह अणुओं का भी कारण है, ऐसा प्रयत्न हो सकता है और नित्यत्व सिद्ध करने के लिए जो दूसरा प्रमाण दिया गया है वह इस प्रकार है।

(2) 'अनित्य है' इस प्रकार विशेष रीति से प्रतिषेध का अभाव है, वह भी अवश्य परमाणुओं का नित्यत्व सिद्ध नहीं करता क्योंकि यदि कोई नित्य वस्तु न हो तो नित्य शब्द के साथ नञ् समास (नकार प्रयोग) उपपन्न न होगा और परमाणु के नित्यत्व की ही अपेक्षा नहीं है, तो वह नित्य परम ब्रह्म है ही और शब्दार्थ व्यवहार मात्र से कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता, क्योंकि अन्य प्रमाण से सिद्ध हुए शब्दार्थ व्यवहार में आते हैं। इसी प्रकार नित्यत्व सिद्ध करने के लिए जो तीसरा प्रमाण कहा गया है – 'अविद्या च' (और अविद्या), उसका यदि ऐसा विवरण करें जिसका अर्थ परिदृश्यमान (सर्वतः दीखता हुआ) है, ऐसे विद्यमान कारणों के प्रत्यक्ष से अग्रहण अविद्या है, तो द्वि–अणुक की भी नित्यता का प्रसंग आएगा। यदि 'अद्रव्य होकर' इतना विशेषण दें, तो भी अकारणत्व ही नित्यता का निमित्त होगा और सके पूर्व कथित होने से 'अविद्या च' यह पुनरुक्त हो जाएगा। उसी प्रकार यदि कारण विभाग से या कारण विनाश से अन्य तृतीय विनाश हेतु का असंभव अविद्या है और वह परमाणुओं का नित्यत्व स्थापना करती है, ऐसी व्याख्या करो तो विनष्ट होने वाली वस्तु अवश्य ही दो हेतुओं से विनष्ट होने योग्य है, ऐसा नियम नहीं है, क्योंकि संयोग सहित अनेक द्रव्यों को अन्य द्रव्य का आरम्भक स्वीकार करें तो यह सिद्ध हो। परन्तु जिसमें से विशेष दूर हो गया है ऐसा सामान्यात्मक कारण विशेष युक्त अवस्थान्तर प्राप्त करने वाले आरम्भक रूप से स्वीकार किया जाए, तो घी के काठिन्य के नाश के समान मूर्त अवस्था के विलय से भी विनाश उत्पन्न हो सकता हैं इसलिए रूपादि युक्त होने से परमाणु जैसे माने गये हैं। उससे विपरीत होगा, इससे भी परमाणुकारणवाद अनुपपन्न है।

2.7 'उभय था च दोषात्'

सूत्र द्वारा शंकराचार्य यह दिखाते हैं कि गंध, रस, रूप स्पर्श और गुण वाली पृथ्वी स्थूल है, रूप, रस और स्पर्श गुण वाला जल सूक्ष्म है रूप और स्पर्श गुण वाला तेज सूक्ष्मतर है और स्पर्श गुण वाला वायु सूक्ष्मतम है। इस प्रकार ये चार भूत अधिक और न्यून गुण वाले एवं स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम तारतम्य से युक्त लोक में देखे जाते हैं। इसी प्रकार स्थूल सूक्ष्म, पृथ्वी, जल आदि के समान उनके परमाणु भी अधिक और न्यून गुणों से युक्त है, ऐसी कल्पना की जाती है या नहीं? कल्पना करें या न करें, दोनों प्रकार में दोष की प्राप्ति का परिहार नहीं किया जा सकता। उपचित और अपचित गुण वाले परमाणुओं की यदि कल्पना की जाय तो उपचित गुण वाले परमाणुओं को मूर्ति के उपचय से परमाणुत्व के हानि का प्रसंग आएगा। मूर्ति के उपचय के बिना भी गुण का उपचय होता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कार्यभूतों में गुण का उपचय होने से मूर्ति का उपचय देखा जाता है। यदि उपचित और अपचित गुणों वाले परमाणुओं की कल्पना न की जाए, और परमाणुत्व की समता को सिद्धि के लिए सब परमाणु एक–एक गुण युक्त माने जाएँ तो तेज में स्पर्श और पृथ्वी में रस, रूप और स्पर्श की उपलब्धि नहीं होगी, क्योंकि कार्य के गुण कारण–गुण पूर्वक होते हैं अर्थात् कारण के ही गुण कार्य में आते हैं यदि सब भूत चार गुण वाले हैं, ऐसी कल्पना करें, तो जल में भी गन्ध की उपलब्धि होनी चाहिए, तेज में गन्ध और रस की और

वायु में रूप रस और गन्ध की उपलब्धि होनी चाहिए, किन्तु ऐसा देखा नहीं जाता इसलिए परमाणु कारणवाद अनुपपन्न है।

2.8 'अपरिग्रहाच्चचात्यन्तमनपेक्षा'

सूत्र द्वारा शंकराचार्य प्रधानकारणवाद सत्कार्यवाद, आत्मा का असंगत्व, चिद्रूपत्व आदि अंशों में अपने सिद्धांत के अनुसार का प्रतिपादन करते हैं। शंकराचार्य का कहना है कि परमाणुवाद किन्हीं शिष्टों द्वारा किसी भी अंश में स्वीकृत नहीं है इसलिए वेदवादियों से अत्यन्त ही आदरणीय है और वैशेषिक अपने शास्त्र के अर्थभूत प्रतिपाद्य रूप द्रव्य गुण, कर्म, सामान्य विशेषों, समवाय नाम के मनुष्य अश्व और शस्त्र के समान अत्यन्त भिन्न और भिन्न लक्षण वाले छः पदार्थों को स्वीकार करते हैं और इस प्रकार मानकर उसके विरुद्ध शेष सभी पदार्थ द्रव्य के अधीन हैं, ऐसा स्वीकार करते हैं। परन्तु उनका यह पक्ष उपपन्न नहीं है। शंकराचार्य यह प्रश्न उठाते हैं कि किस प्रकार यह उपपन्न नहीं है? प्रश्न का उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि जैसे कुश, पलाश, आदि अत्यन्त भिन्न होने से अन्योन्य के अधीन नहीं होते हैं, उसी प्रकार द्रव्य आदि के भी परस्पर अत्यन्त भिन्न होने से गुण आदि द्रव्य के अधीन नहीं होते। परन्तु गुण आदि द्रव्याधीन होते हैं क्योंकि द्रव्य के अस्तित्व में उनका अस्तित्व और द्रव्य के अभाव में उनका अभाव होता है। इसलिए संस्थानादि भेद से द्रव्य ही अनेक शब्द और प्रतीति वाला होता है जैसे कि देवदत्त एक ही होता हुआ भी अन्य अवस्था के योग से अनेक शब्द और प्रतीति वाला होता है। ऐसी परिस्थिति में सांख्य सिद्धांत का प्रसंग और स्व सिद्धांत का विरोध प्राप्त होगा।

शंकराचार्य का कहना है कि यदि वैशेषिक दर्शन के द्रव्य और गुण के सम्बन्ध में यह कहा जाय कि द्रव्य और गुणों के बीच अयुत्सिद्ध सम्बन्ध है तो यह अयुत्सिद्धत्व या तो अपृथक् देशत्व होगा अथवा अपृथक कालत्व होगा अथवा अपृथक् स्वभावत्व होगा। परन्तु इनमें से किसी भी विकल्प का वैशेषिक मत से मेंल नहीं हो पाता। संयोग और समवाय का भेद भी ठीक नहीं है। संयोग ऐसी वस्तुओं के बीच माना जाता है, जिनका पृथक अस्तित्व संभव है।

समवाय ऐसी वस्तुओं के बीच सम्बन्ध है, जिनका पृथक् अस्तित्व असंभव है। कारण कार्य के बीच ही समवाय सम्बन्ध होता है। कारण कार्य के पहले अस्तित्व में आता है। ऐसी स्थिति में यह कैसे कहा जा सकता है कि कारण–कार्य के बीच अयुत्सिद्ध सम्बन्ध है? जिस कार्य की अभी उत्पत्ति ही नहीं हुई है, उसका कारण के साथ सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित किया जा सकता है? अतएव वस्तुओं से पृथक् संयोग या समवाय का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। इसलिए प्रत्येक दृष्टि से वैशेषिक परमाणुवाद का मत युक्तिसंगत नहीं है।

2.9 वैशेषिक दर्शन का पदार्थों का खण्डन

वैशेषिक दर्शन छः पदार्थों में विश्वास करता है। अरस्तू के विधेयों के समान ये केवल तार्किक विधेय नहीं हैं, वरन् तात्विक विधेय हैं। ये सभी पदार्थ कहने के लिए तो एक दूसरे से पृथक् हैं एवं स्वतंत्र घोषित किये गये हैं, पर व्यवहार में कर्म, गुण इत्यादि पदार्थ द्रव्य पर आश्रित हैं। यदि ऐसी बात है तो द्रव्य ही एक मात्र पदार्थ होगा। यदि इससे बचने के लिए वैशेषिक वाले यह कहें कि द्रव्य एवं गुणों के बीच अयुतसिद्ध सम्बन्ध पाया जाता है तो यह अयुत्सिद्ध सम्बन्ध

या तो अपृथक देशत्व का रूप होगा या अपृथक कालत्व या अपृथक स्वभावत्व रूप होगा। परन्तु इनमें से कोई भी विकल्प वैशेषिक दर्शन की पुष्टि नहीं करेगा। यदि अपृथक्देशत्व स्वीकार किया जाय तो वैशेषिकों का यह मत बाधित हो जाएगा कि सफेदी और कपड़े में एकदेशत्व पाया जाता है तथा सूत और कपड़े में एकदेशवत्व पाया जाता है। यदि द्रव्य और गुण में अपृथक् कालत्व स्वीकार किया जाए तो दो सींगों के बीच भी अयुतसिद्ध सम्बन्ध मानना होगा। इसके अतिरिक्त यदि अपृथक् स्वभावत्व को स्वीकार किया जाए तो एक प्रकार का तादात्म्य ही होगा। शंकराचार्य समवाय को एक स्वतंत्र पदार्थ के रूप में नहीं स्वीकार करते। समवाय सम्बन्ध को वे तादात्म्य के रूप में ही स्वीकार करते हैं।

द्रव्य एवं गुण के बीच समवाय सम्बन्ध है। वैशेषिकों के अनुसार समवाय एक पृथक् पदार्थ है। ऐसी स्थिति में द्रव्य एवं समवाय के बीच एक दूसरे समवाय तथा समवाय एवं गुण के बीच एक तीसरे समवाय की कल्पना करनी होगी इससे अनवस्था दोष की उत्पत्ति होगी। अतः समवाय को तादात्म्य मानना होगा।

शंकराचार्य पूर्ण और अंश के भेद को स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार पूर्ण की न तो अंशी का संघात माना जा सकता है और न ही अंशों से पृथक् की माना जा सकता है। पूर्ण सभी अंशों में एक साथ निवास नहीं कर सकता, क्योंकि ऐसी स्थिति में पूर्ण का प्रत्यक्ष असंभव हो जाएगा। सभी अंशों का एक साथ प्रत्यक्ष करना असम्भव है। यदि यह कहा जाएँ कि पूर्ण एक साथ सभी अंशों में अन्य अंशों की सहायता से निवास करता है तो यह असम्भव है क्योंकि इससे अनवस्था दोष की उत्पत्ति होगी। पुनः पूर्ण सभी अंशों में पृथक्–पृथक् रूप में निवास नहीं कर सकता क्योंकि यदि वह एक अंश में पूर्णरूप से निवास करता है तो दूसरे अंशों में कभी निवास नहीं कर सकता। यदि यह मान लिया जाएँ कि पूर्ण पृथक्–पृथक् रूप में सभी अंशों में निवास करता है तो ऐसी स्थिति में हमें एक के स्थान पर अनेक पूर्णों का प्रत्यक्ष होने लगेगा जैसा कि व्यवहार में कभी भी नहीं होता। इन सभी कारणों से शंकराचार्य के अनुसार पूर्ण और अंश की कल्पना तात्विक न होकर मिथ्या ही है।

वैशेषिक दार्शनिकों के अनुसार आत्मा एक द्रव्य है जिसका चैतन्य एक आगन्तुक गुण है। आत्मा प्रारम्भ में अचेतन ही रहता है, पर जब आत्मा का बाह्य वस्तुओं के साथ सम्पर्क होता है तो उसके भीतर चैतन्य नाम का गुण उत्पन्न हो जाता है। यहाँ चैतन्य आत्मा का स्वभाव न होकर उसका आगन्तुक गुण ही है। शंकराचार्य के अनुसार आत्मा की यह बिल्कुल निरर्थक कल्पना है। चैतन्य आत्मा का स्वभाव है। चैतन्य के बिना आत्मा की कल्पना भी नहीं की जा सकती। यदि चैतन्य को आत्मा का गुण मान लिया जाए तो दुःख और सुख के गुण आत्मा की तरह नित्य मान लिए जाएँगे अथवा दुःख एवं सुख के समान आत्मा को भी नित्य मान लिया जाएगा जो कि असंभव है। इस प्रकार शंकराचार्य यह दिखाते हैं कि किसी भी तर्क द्वारा यह सिद्ध नहीं किया जा सकता है कि आत्मा अनित्य या परिवर्तनशील है।

वैशेषिक दर्शन का 'कर्म' भी असंभव है। इसके अनुसार ईश्वर अदृष्ट की सहायता से परमाणुओं में गति या क्रिया को उत्पन्न करता है। अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि 'अदृष्ट' कहाँ निवास करता है, तो यह गति का कारण नहीं हो सकता, क्योंकि सृष्टि के पूर्व आत्मा और अदृष्ट दोनों अचेतन हैं। पुनः आत्मा का परमाणुओं के साथ कोई सम्बन्ध भी नहीं है, जिससे कि वह उनमें गति प्रदान कर सके। यदि आत्मा का परमाणुओं से साक्षात् सम्बन्ध मान लिया जाएँ तो सृष्टि नित्य हो जाएँगी। अतःकर्म असंभव है।

शंकराचार्य वैशेषिक दर्शन के सामान्य पदार्थ के अस्तित्व को असंभव मानते हैं। वैशेषिक दर्शन के अनुसार विशेषों के अस्तित्व के साथ सामान्य का भी एक स्वतंत्र अस्तित्व होता है। तर्क संग्रह में सामान्य को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि–'नित्य मेंकमनेकानुगतम् सामान्यम्' अर्थात् सामान्य नित्य, एक और अनेकानुगत है। इस सामान्य का खण्डन करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि हमें विशेष गायों के भीतर किसी सामान्य 'गाय' का कहीं प्रत्यक्ष नहीं होता। विशिष्ट गायों के भीतर 'सामान्य गाय' विद्यमान न होकर सामान्य 'गोत्व' ही विद्यमान होता है जो 'सामान्य' नामक पदार्थ न होकर केवल सामान्य विशेषताएँ ही होती हैं। यदि किसी 'सामान्य गाय' को प्रत्येक गाय के पूर्ण रूप से विद्यमान मान लिया जाएँ तो किसी विशिष्ट गाय की सींग या पूंछ से भी दूध की प्राप्ति की जा सकती है जो व्यवहार में कभी भी नहीं संभव है। अतः वैशेषिक दर्शन के सामान्य की कल्पना भी असंभव है।

2.10 निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि शंकराचार्य वैशेषिक दर्शन का खण्डन करते हुए वैशेषिक मत को अर्द्धवैनाशिक मत कहते हैं। शंकराचार्य ने वैशेषिक मत के परमाणुवाद को अयुक्ति संगत माना है, क्योंकि अचेतन परमाणु इस विलक्षण रूप से सुव्यवस्थित विश्व की उत्पत्ति की व्याख्या नहीं कर पाता है। परमाणुओं की प्रेरणा के लिए वैशेषिक अदृष्ट का सहारा लेता है किन्तु इससे भी समस्या हल नहीं होती, क्योंकि वह भी तो अचेतन है। पुनः इस बात का भी समाधान नहीं मिलता कि सृष्टि रचना के लिए पहले–पहल परमाणुओं में क्रिया कैसे उत्पन्न हुई? यदि पमाणुओं में गति का होना उसका स्वाभाविक गुण है तो फिर उसका कभी भी अन्त नहीं होना चाहिए। इस प्रकार प्रलय कभी भी नहीं होना चाहिए। वैशेषिक दर्शन में चैतन्य आत्मा की आगन्तुक गुण है, इसलिए आत्मा भी परमाणु का प्रेरक या प्रवर्तक नहीं कहा जा सकता। वास्तविकता यह है कि वैशेषिक दर्शन में परमाणु, आकाश काल, दिक्, आत्मा, मन, सामान्य, विशेष, समवाय इत्यादि पदार्थ शब्द, स्पर्श, रूप आदि गुण तथा कर्म में विश्वास करते हैं। इनमें कुछ को नित्य और कुछ को अनित्य मानते हैं, जो कि उनको अर्द्ध वैनाशिक सिद्ध करता है।

प्रश्नावली

लघु उत्तरीय प्रश्न–

1. वैशेषिक दर्शन के परमाणुवाद को स्पष्ट करें?
2. परमाणुओं का स्वभाव क्या है?
3. 'रूपादिमत्वाच्च विपर्मयो दर्शनात' की व्याख्या करें।
4. 'नित्यमेवं च भावात्' सूत्र की व्याख्या करें।
5. वैशेषिक में पदार्थों का क्या महत्व है?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न–

1. शंकराचार्य द्वारा वैशेषिक दर्शन की आलोचना पर एक निबन्ध लिखिए।
2. वैशेषिक दर्शन के पदार्थों के खण्डन की व्याख्या शंकराचार्य के अनुसार कीजिए।

****

इकाई–3

बौद्ध दर्शन के सर्वास्तिवाद का खण्डन

संरचना

3.1. प्रस्तावना

3.0. उद्देश्य

3.2. 'समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः'

3.3. इतरेतरप्रव्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्र निमित्ततवात'

3.4. 'उत्तरोत्पादे चपूर्वनिरोधात्'

3.5. 'असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा'

3.6. 'प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात्'

3.7. 'उभयथा च दोषात्'

3.8. 'आकाशे चाविशेषात्'

3.9. 'अनुस्मृतेश्च'

3.10. 'नासतोऽदृष्टत्वात्'

3.11. 'उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः'

3.12. निष्कर्ष

3.0. उद्देश्य

बौद्ध दर्शन के वैभाषिक एवं सौतांत्रिक सम्प्रदाय को सर्वास्तिवाद कहा जाता है, क्योंकि वैभाषिक एवं सौतोत्रिक दोनों ही प्रत्येक वस्तु के स्वतंत्र अस्तित्व में विश्वास करते हैं। वैभाषिक एवं सौतांत्रिक में अन्तर इतना ही है कि वैभाषिक बाह्य प्रत्यक्षवाद में विश्वास करता है और सौतांत्रिक बाह्यनुमेंयवाद में विश्वास करता है, किन्तु दोनों ही वस्तुवादी सिद्धान्त हैं। शंकराचार्य ने यह दिखाया है कि सर्वास्तिवादी क्षणभंगवाद का समर्थन करते हैं, किन्तु न तो क्षणिक परमाणु संघात बना सकते हैं और न क्षणिक विज्ञान स्कन्ध ही संघात बना सकते हैं। इसके अतिरिक्त सर्वास्तिवादी आकाश, प्रतीत्यसमुत्वाद (अप्रतिसंख्यानिरोध) और निर्वाण (प्रतिसंख्यानिरोध) में विश्वास करता है और इसे सन्तति नित्य या प्रवाह नित्य मानता है, किन्तु ये तीनों ही उनके मुख्य सिद्धान्त क्षणभंगवाद को निरस्त करते हैं। पुनश्च ज्ञान, स्मृति और प्रत्यभिज्ञा क्षणभंगवाद पर मार्मिक प्रहार करती है। इसलिए शंकराचार्य सर्वास्तिवाद सर्ववैनाशिक मानते है।

3.1. प्रस्तावना

शंकराचार्य का यह मानना है कि सर्वास्तिवाद बौद्ध क्षणिक परमाणु और क्षणिक विज्ञान की सत्ता स्वीकार करता है। ये दोनों अलग–अलग भौतिक एवं चैत संघात बनाते हैं। परन्तु शंकराचार्य का कथन है कि क्षणभंगवाद के ये सघात नहीं बना सकते। न तो क्षणिक परमाणु भौतिक संघात बना सकते हैं और न ही क्षणिक विज्ञान स्कन्ध संघात ही बना सकते हैं। बौद्ध दर्शन में सर्वास्तिवाद किसी चेतन भोक्ता या नियन्ता की सत्ता को नहीं माना है जो संघात बना सके। प्रतीत्यसमुत्पाद चक्र में भी प्रत्येक पूर्व अंग केवल अपर अंग का कारण है, सम्पूर्ण चक्र नहीं। अतएव् प्रतीत्यसमुत्पाद के चक्र में भी अंगों का संघात संभव नहीं है। पुनश्च प्रतीत्यसमुत्पाद में यह स्पष्ट नहीं हो पाता है कि उत्पाद और विनाश वस्तु के स्वरूप हैं। अथवा अवस्थान्तर अथवा कोई अन्य वस्तु। अतः प्रतीत्यसमुत्पाद में क्षणभंगवाद ही दूषित है। इसके अतिरिक्त सवोस्तिवाद में आकाश, प्रतीत्यसमुत्पाद, और निर्वाण इन तीनों को असंस्कृत धर्म मानकर सन्तति नित्य या प्रवाह–नित्य को ही को ही सत् मान लेता है, जो कि बौद्ध दर्शन के असंस्कृत धर्म को ही निरस्त कर देते हैं। क्षणभंगवाद से बौद्ध धर्म का कर्म सिद्धान्त भी खण्डित हो जाता है, क्योंकि कृतप्रणाश और अकृताभ्यागम का दोष आ जाता है और बन्ध और निर्वाण की व्यवस्था भी खण्डित हो जाती है। बिना नित्य ज्ञाता की सत्ता को स्वीकार किये ज्ञान, स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञा की व्याख्या भी संभव नहीं हो सकती। इस प्रकार शंकराचार्य यह दिखाते हैं कि नित्य आत्मा की सत्ता असंदिग्ध है। इसीलिए शंकराचार्य यह कहते है कि जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त समस्त विज्ञानों को अपनी ही आत्मा के विज्ञान अनुभव करने वाले क्षणभंगवादी बौद्ध को आत्मा के भी क्षणिक विज्ञान मानने में तनिक भी लज्जा नहीं आती है। शंकराचार्य सर्वास्तिवाद के खण्डन में निम्नलिखित तर्क देते है।

3.2. 'समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः'

सूत्र के द्वारा शंकराचार्य यह स्पष्ट करते हैं कि बौद्ध सवोस्तिवादियों के अनुसार बाह्य भौतिक जगत् पृथ्वी, जल तेज तथा वायु के परमाणुओं के संघात से निर्मित हैं तथा आध्यात्मिक जगत् रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान के पंचस्कन्धों के संघात से निर्मित है। सूत्र का अर्थ यह है कि परमाणु हेतुक बाह्य समुदाय तथा स्कन्ध हेतुक आध्यात्मिक समुदाय में भी समुदाय की प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि अचेतन परमाणु और स्कन्धों का अपने आप समुदाय असंभव है। इन समुदायों के अतिरिक्त बौद्ध सर्वास्तिवादी किसी कूटस्थ आत्मा में विश्वास ही नहीं करते, जिससे कि इन समुदायों की प्राप्ति हो सके। बौद्ध दर्शन में परमाणु और स्कन्ध दोनों ही अचेतन हैं। अतएव उनके द्वारा समुदायों का निर्माण असंभव है। यदि यह कहा जाय कि परमाणु और स्कन्ध स्वयं अपने स्वभाव के कारण सक्रिय होते हैं, तो इनके सक्रिय होने के कारण समुदायों की प्राप्ति नित्य हो जाएगी और निर्वाण असंभव हो जायेगा। मन भी इन समुदायों का कारण नहीं है, क्योंकि देहाकार संघ होने पर मन का विज्ञान उत्पन्न होता है तथा मन का विज्ञान होने पर समुदायों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष की उत्पत्ति होगी। इतना ही नहीं परमाणुओं और स्कन्धों के अतिरिक्त न तो कोई नित्य आत्मा है और न ही कोई नित्य ईश्वर ही है, जो समुदायों की उत्पत्ति कर सके। अतएव शंकराचार्य का यह मानना है कि बौद्ध दर्शन के सर्वास्तिवाद में समुदाय संभव नहीं

है। समुदाय के ही अनुपपन्न होने पर उसके आधार पर होने वाला लोक व्यवहार ही असंभव हो जाएगा।

3.3. इतरेतरप्रव्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्र निमित्ततवात'

सूत्र के द्वारा शंकराचार्य यह दिखाते हैं कि यदि सर्वास्तिवादियों के विषय में यह कहा जाय कि भोक्ता (आत्मा अथवा प्रशासिता (ईश्वर) नामक संघातकर्त्ता को वे भले ही न मानते हों, किन्तु फिर भी प्रतीत्यसमुत्पाद चक्र के अविद्या, संस्कार के बीच परस्पर कारणता को मानने के कारण लोक यात्रा को संभव माना जा सकता है। इस प्रकार शंकराचार्य का यह कहना है कि अविद्या आदि समुदाय के परस्पर निमित्त–नैमित्तिक भाव कार्य–कारण रूप से घटीयंत्र के समान सर्वदा आवर्तमान होने से संघात उत्पन्न होता है, तो ऐसी स्थिति में अविद्याआदि परस्पर कारण होने पर भी पूर्व–पूर्व उत्तरोत्तर की केवल उत्पत्ति का निमित्त होता है, संघात का निमित्त नहीं होता। अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नाम–रूप की श्रेणी स्वयं संघात पर आश्रित होती है। अतः यह संघात का कारण नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि द्वादश–निदान में उत्पत्ति और संधात एक साथ होता है, तो प्रश्न उत्पन्न होगा कि उत्तरोत्तर संघात पूर्व–पूर्व संघात के समान होंगे अथवा असमान होंगे। यदि वे समान हैं, तो इसका अर्थ है कि उनमें कोई परिवर्तन नहीं है और यदि असमान हैं, तो इसका अर्थ यह है कि पाप और पुण्य का विचार किये बिना ही उनमें परिवर्तन हो जाता है। इसके अतिरिक्त सर्वास्तिवादी बौद्ध जिसके भोग के लिए संघात को मानता है, वह स्थिर भोक्ता नहीं है। यदि इसे स्वीकार कर लिया जाएँ, तो भोग भोग के लिए होगा, उसी प्रकार निर्वाण निर्वाण के लिए ही होगा, इसलिए अन्य मुमुक्षु होना युक्त नहीं है। यदि भोग और मोक्ष (निर्वाण) अन्य से प्रार्थित हों, तो वह भोग और मोक्ष के समय स्थायी होना चाहिए। परन्तु स्थायी मानने पर क्षणिकता के स्वीकार का विरोध आता है। इसलिए अविद्या आदि अन्योन्य की उत्पत्ति के लिए ही हो, तो होने दो, किन्तु संघात सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि भोक्ता का अभाव है, ऐसा अभिप्राय है।

3.4. 'उत्तरोत्पादे चपूर्वनिरोधात्'

सूत्र के द्वारा शंकराचार्य यह दिखाते है कि अविद्या आदि के (परस्पर) उत्पत्ति मात्र के निमित्त होने से संघात की सिद्धि नहीं होती क्योंकि क्षणभंगवादी बौद्ध का यह कहना है कि उत्तर क्षण की उत्पत्ति के समय पूर्व क्षण का नाश होता है। ऐसा स्वीकार करने वाला पूर्व और उत्तर क्षण का कार्य–कारणभाव सिद्ध नहीं कर सकेगा, क्योंकि नष्ट होता हुआ या नष्ट हुआ पूर्वक्षणिक कार्य अभावग्रस्त होने से उत्तर क्षणिक कार्य का हेतु है, ऐसा अभिप्राय हो, तो वैसा मानने पर भी कार्यकारणभाव उपपन्न नहीं होगा, क्योंकि भावभूत के फिर व्यापार की कल्पना करने पर उसका अन्य क्षण के साथ सम्बन्ध का प्रसंग आता है। यदि भाव ही इसका व्यापार हो, ऐसा अभिप्राय है, तो वैसे भी उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि हेतु–स्वभाव से अनुपरक्त हुए बिना फल की उत्पत्ति संभव नहीं है। यदि यह मानें कि हेतु स्वभाव से ही अनुपरक्त होता है, तो हेतु स्वभाव फल के काल में स्थायी होने से क्षणभंग के स्वीकार के त्याग का प्रसंग आवेगा अथवा हेतु स्वभाव से उपरक्त हुए बिना ही फल उत्पन्न होता है, ऐसा कार्य–कारणभाव स्वीकार करने से तुम्हारे मत में सर्वत्र उसके प्राप्त होने से अतिप्रसंग होगा। यदि यह मान लिया जाय कि हेतु स्वभाव उत्पाद एवं निरोध वस्तु का ही स्वरूप है या अन्य वस्तु रूप है तो भी सर्वथा उपपन्न नहीं हो सकता। यदि यह मान लिया जाय कि उत्पाद

और निरोध शब्दों से मध्वर्ती वस्तु के आदि और अन्त नाम की अवस्थाएँ वाच्य होती हैं ऐसा कोई विशेष है, तो ऐसी अवस्था में भी वस्तु का आदि, मध्य और अन्त, इन तीन क्षणों के साथ सम्बन्ध होने से क्षणिकत्व स्वीकार की हानि होती है। यदि अश्व और महिष के समान वस्तु के उत्पाद और निरोध अत्यन्त व्यतिरिक्त हों, तो वस्तु के उत्पाद और निरोध से संस्पृष्ट न होने से उसके शाश्वत होने का प्रसंग आवेगा यदि वस्तु के दर्शन उत्पाद और अदर्शन निरोध हो, तो ऐसी अवस्था में भी वे द्रष्टा के धर्म होंगे, वस्तु के नहीं, इससे वस्तु के शाश्वत होने का प्रसंग आवेगा। इससे भी सौगत मत असंगत है।

3.5. 'असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा'

सूत्र द्वारा शंकराचार्य यह दिखलाते हैं कि यदि हेतु के बिना कार्य की उत्पत्ति मानी जाय, तो बौद्ध दर्शन के प्रतीत्यसमुत्पाद प्रतिज्ञा का बाध होगा। यदि कार्यपर्यन्त कारण की स्थिति मानी जाय तो कार्य–कारण युगपद् हो जाएँगें और क्षणिक प्रतिज्ञा की हानि होगी। बौद्ध दर्शन में चार प्रकार के हेतुओं को प्राप्त करके चित्त और चैत्त पदार्थ उत्पन्न होतें हैं, इस प्रतिज्ञा की भी हानि होगी और निर्हेतुक उत्पत्ति मानने पर, तो प्रतिबन्ध के न होने से सब वस्तु सर्वत्र उत्पन्न होने लगेगी। 'उत्तरक्षण की उत्पत्ति तक पूर्वक्षण अवस्थित रहेगा', यदि ऐसा माना जाय, तो हेतु और फल समकालीन हो जाएँगें और ऐसा होने पर संस्कार क्षणिक हैं, यह प्रतिज्ञा बाधित होगी। वास्तविकता यह है कि बौद्ध दर्शन में बिना हेतु के कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। किसी कार्य की उत्पत्ति में विषय, करण, सहकारी और संस्कार ये चार प्रकार के हेतु स्वीकार किये गये हैं। ये बौद्ध ग्रन्थों में क्रम आलम्बन प्रत्यय, अधिपति प्रत्यय, सहकारि प्रत्यय तथा समनन्तर प्रत्यय कहें जाते है। अतएव कार्य निर्हेतुक नहीं हो सकते। इसी प्रकार कारण–कार्य में यौग पद भी नहीं हो सकता, क्योंकि इससे क्षणिकत्व का विरोध होगा, अतएव बौद्ध दर्शन का सर्वास्तिवाद असंगत है।

3.6. 'प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात्'

सूत्र के द्वारा शंकराचार्य यह दिखाते हैं कि वैनाशिक ऐसी परिकल्पना करते हैं कि जो बुद्धि बोध्य, उत्पाद्य और क्षणिक है, वह तीन वस्तुओं से भिन्न हैं और उन तीनों को वे प्रतिसंख्यानिरोध, अप्रतिसंख्यानिरोध एवं आकाश कहते हैं और ये तीन अवस्तुएँ अभावमात्र निरूपाख्य हैं। सर्वास्तिवादियों का यह मानना है कि भावों का बुद्धिपूर्वक विनाश प्रतिसंख्यानिरोध है, और उससे विपरीत अप्रतिसंख्यानिरोध है तथा आवरण का अभावमात्र आकाश है। यह प्रतिसंख्या निरोध या अप्रतिसंख्यानिरोध सन्तानगोचर होगा या भाव गोचर। सन्तानगोचर तो हो नहीं सकता, क्योंकि सर्वसन्तानों में सन्तानियों के विच्छेदरहित कार्य–कारणभाव होने से सन्तान का विच्छेद संभव नहीं है। इसी प्रकार वे भावगोचर भी नहीं हो सकते, क्योंकि भावों का निश्चय ही विनाश नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि सब अवस्थाओं में भी प्रत्यभिज्ञान के बल से अन्वयी का विच्छेद देखने को नहीं मिलता। इससे सिद्ध होता है कि कल्पित दोनों निरोध अनुपपन्न हैं।

3.7. 'उभयथा च दोषात्'

सूत्र द्वारा शंकराचार्य यह स्पष्ट करते हैं कि बौद्ध दर्शन में अविद्या का सम्यग्ज्ञान द्वारा नाश होता है अथवा अपने आप से। अविद्या का नाश दोनों प्रकार में से किसी भी रूप में मानने पर बौद्ध दर्शन सदोष होने के कारण असंगत होगा। वस्तुतः यम, नियम, श्रवण, मनन एवं निदिध्यासन ही सम्यग्यान के साधन हैं। यदि साधनरहित सम्यग्ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति मानी जाय, तो बौद्ध मत का बिना कारण के नाश का सिद्धान्त बाधित हो जाएगा। इसके विपरीत यदि यह कहा जाय कि अविद्या का स्वतः ही विनाश हो जाता है, तो मार्गोपदेश व्यर्थ हो जाएगा इस प्रकार दोनों ही पक्षों के दूषित होने से बौद्ध दर्शन का सर्वास्तिवाद अयुक्त है।

3.8. 'आकाशे चाविशेषात्'

सूत्र के द्वारा शंकराचार्य यह स्पष्ट करते हैं कि अब प्रतिसंख्या निरोध एवं अप्रतिसंख्यानिरोध के तुच्छत्व के निराकरण के पश्चात् आकाश के तुच्छत्व का निराकरण किया जा रहा है। शंकराचार्य का यह मानना है कि आकाश 'अवस्तु' नहीं है। श्रुति कहती है कि 'आत्मन आकाशः संभूतः' अर्थात् आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ। अनुमान से भी इसकी सिद्धि होती है। जिस प्रकार गन्ध गुण से पृथ्वी का अनुमान किया जाता है, उसी प्रकार शब्द गुण से आकाश का अनुमान किया जाता है। बौद्धों के अनुसार आकाश वायु का आश्रय है, अतः इसे वस्तु रूप होना चाहिए। पुनः, हम यह नहीं कह सकते कि प्रतिसंख्या निरोध और अप्रतिसंख्यानिरोध के समान आकाश अवस्तु है और साथ–साथ नित्य भी है। जो अवस्तु रूप है, वह न तो नित्य हो सकती है और न ही अनित्य। अतएव सर्वास्तिवादियों के द्वारा आकाश के तुच्छत्व के निराकरण द्वारा भी शंकराचार्य सर्वास्तिवादियों को असंगत सिद्ध किये है।

3.9. 'अनुस्मृतेश्च'

सूत्र के द्वारा शंकराचार्य यह दिखाते हैं कि उपलब्धि के अनन्तर उत्पन्न हुआ स्मरण ही अनुस्मृति है। इससे प्रतीत होता है कि अनुभवकर्त्ता आत्मा क्षणिक नहीं है। यदि क्षणभंगवाद को सार्वभौम सत्य मान लिया जाय, तो अनुभावक आत्मा भी क्षणिक हो जाएगा। ऐसी स्थिति में स्मृति असंभव हो जाएँगी। स्मृति के लिए यह आवश्यक है कि ज्ञान प्राप्त करने वाली आत्मा और स्मरण करने वाली आत्मा समान हो। संवेदन, प्रत्यभिज्ञा, प्रत्यक्ष व स्मरण के क्षण एक ही आत्मा से सम्बन्धित होने चाहिए तभी स्मृति की संभावना हो सकती है। यह तभी संभव है, जब आत्मा क्षणिक न होकर नित्य और शाश्वत हो। यदि कोई कहे कि वास्तव में नित्य आत्मा नाम की कोई भी वस्तु संसार में विद्यमान नहीं है, केवल दो या अधिक स्वसंवेदनों के सादृश्य 'तेनेदं सदृशं' के आधार पर ही हम एक नित्य आत्मा की कल्पना कर लेते हैं। इसके उत्तर में वेदान्ती कहता है कि इस समानता की प्रत्यभिज्ञा तभी हो सकती है, जबकि 'तेनेदं सदृशं' में प्रतियोगी, अनुयोगी तथा सादृश्य का ग्रहीता नित्य आत्मा है, अतएव बौद्ध दर्शन का क्षणभंगवाद कभी भी युक्तिसंगत सिद्धांन्त नहीं हो सकता।

3.10. 'नासतोऽदृष्टत्वात्'

सूत्र के द्वारा शंकराचार्य यह स्पष्ट करते हैं कि अभाव से कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती, क्योंकि असत् नरश्रृंग आदि से कार्योत्पत्ति नहीं देखी जाती। क्षणभंग वादियों के अनुसार प्रथम क्षण के नष्ट हो जाने पर ही द्वितीय क्षण की उत्पत्ति होती है। इसका अर्थ यह है कि अभाव से ही कार्य क्षण की उत्पत्ति होती है। यदि अभाव से ही कार्य की उत्पत्ति मान ली जाय, तो किसी कार्य की उत्पत्ति के लिए विशिष्ट कारणों की क्या आवश्यकता होगी, अभाव तो सर्वत्र ही होता है। यदि यह कहा जाय कि विभिन्न प्रकार के अभाव होते हैं और उनके भीतर विशिष्ट गुण पाये जाते हैं, तो ऐसी स्थिति में वे अभाव न होकर भाव पदार्थ हो जाएँगें। अतएव यह कहा जा सकता है कि अभाव के अन्दर कार्य करने की क्षमता का बिलकुल अभाव होने के कारण भी सर्वास्तिवाद असंगत है।

3.11. 'उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः'

सूत्र के द्वारा शंकराचार्य सर्वास्तिवादियों के सम्बन्ध में यह कहते हैं। कि यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति स्वीकार करें, तो ऐसा मानने पर चेष्टा रहित उदासीन पुरूषों की अभिमत सिद्ध हो जायेगी, क्योंकि अभाव सर्वत्र सुलभ है। ऐसी स्थिति में खेत में प्रयत्न न करने वाले किसान को भी अभिमत की सिद्धि हो जाएँगी। मृतिका की संस्कार क्रिया में प्रयत्न न करने वाले कुलाल से वर्तन उत्पन्न हो जाएँगें। इसी प्रकार स्वर्ग और मोक्ष के लिए भी कोई किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करेगा। अतएव बौद्ध दर्शन के सर्वास्तिवाद को युक्त नहीं कहा जा सकता।

3.12. निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि शंकराचार्य ने बौद्ध दर्शन के सर्वास्तिवाद में विद्यमान दोषों को दिखाते हुए उसे असंगत माना है। उन्होंने सर्वास्तिवादियों का खण्डन करते हुए यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया है कि सर्वास्तिवाद में स्थिरआत्मा की सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया है। सर्वास्तिवाद आत्मा को रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान रूप पाँच स्कन्धों का समुदाय मात्र माना गया है। इन पाँच स्कन्धों की समष्टि से भिन्न कोई आत्मा नहीं है। परन्तु यदि बचपन से बुढ़ापे तक रहने वाली कोई आत्मा नहीं है, तो बुढ़ापे में बचपन की बातों का स्मरण किसे होता है? पुनश्च यदि स्थिर आत्मा नहीं है, जैसाकि सर्वास्तिवादी मानते हैं, तो कर्म सिद्धान्त ही खण्डित हो जाता है और साथ ही पुनर्जन्म एवं मोक्ष की व्याख्या भी असंभव हो जाती है। इस प्रकार शंकराचार्य ने यह उद्घोषित किया है कि सर्वास्तिवादियों का मत सर्ववैनाशिक है और उसे स्वीकार करने पर लोक व्यवहार संभव नहीं रह जाएगा।

प्रश्नावली

लघु उत्तरीय प्रश्न–

1. बौद्ध दर्शन के सर्वास्तिवाद को स्पष्ट करें?
2. बौद्ध दर्शन के प्रतीत्यसमुत्पाद की चर्चा करें।
3. 'उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात' की व्याख्या करें।
4. 'उभयया च दोषात्' की व्याख्या करें।
5. 'अनुस्मृतेश्च' की विवेचना कीजिए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न–

1. शंकराचार्य द्वारा बौद्ध दर्शन की आलोचना पर एक निबन्ध लिखिए।
2. शंकराचार्य द्वारा बौद्ध दर्शन के प्रमुख मतों का खण्डन किस प्रकार किया है?

****

इकाई–4

शंकराचार्य के द्वारा बौद्ध दर्शन के योगाचार की आलोचना

संरचना

4.0. उद्देश्य

4.1. प्रस्तावना

4.2. 'नाभाव उपलब्धेः'

4.3. 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्'

4.4. 'नभावोऽनुपलब्धः'

4.5. 'क्षणिकत्वाच्च'

4.6. 'सर्वथानुपपत्तेश्च'

4.7. शंकराचार्य के विज्ञानवाद की आलोचना के पक्ष और विपक्ष

4.8. निष्कर्ष

4.0. उद्देश्य

शंकराचार्य स्वयं विज्ञानवादी होते हुए भी बौद्ध विज्ञानवाद का खण्डन वस्तुवाद के दृष्टिकोण से किया है। बौद्धविज्ञानवाद का खण्डन करते समय शंकराचार्य पारमार्थिक विज्ञानवाद और व्यावहारिक वस्तुवाद को स्वीकार करते हैं। बौद्ध दर्शन के विज्ञानवाद का खण्डन करते हुए वे यह दिखाते हैं कि बौद्ध विज्ञानवाद का सबसे बड़ा दोष यही है कि वह व्यवहार में भी विज्ञानवाद स्वीकार करता है एवं समस्त लोकव्यवहार का व्यर्थ ही निषेध करता है। विश्व के प्रसिद्ध विज्ञानवादी सम्प्रदायों में बौद्ध विज्ञानवाद ही एकमात्र ऐसा सिद्धन्त है जो परमार्थ और व्यवहार दोनों स्तर पर विज्ञानवाद को स्वीकार करता है। शंकराचार्य ने सुस्पष्ट और युक्तियुक्त रूप में प्रतिपादित किया है कि व्यवहार में वस्तुवाद ही मानना पड़ता है, क्योंकि व्यवहार में भी विज्ञानवाद मानने से सारे लोक व्यवहार का निरर्थक निषेध हो जाता है।

4.1. प्रस्तावना

शंकराचार्य का यह मानना है कि बौद्ध विज्ञानवादी अपने विज्ञानवादी दृष्टिकोण के समर्थन में यह प्रतिपादित करते हैं कि यदि बाह्य पदार्थ हैं, तो वे या तो परमाणु रूप हैं या संघातरूप हैं परमाणु दृष्टिगत नहीं होते और षडंश होने के कारण अविभाज्य नहीं हो सकते। परमाणु संघात भी परमाणुओं से भिन्न या अभिन्न सिद्ध नहीं होते। सहोपलम्भ अर्थात् विज्ञान और विषय (अर्थ) की सदा एक साथ उपलब्धि इस बात का प्रबल प्रमाण है कि विज्ञान ही अर्थकार होकर प्रतीत होता

है। पुनः भ्रम और स्वप्न के पदार्थों में तथा जागरित अवस्था के लौकिक पदार्थों में कोई भेद नहीं है, क्योंकि दोनों में विज्ञान अर्थाकार रूप लेकर प्रतीत होता है। विज्ञान बहुत्व का कारण अनादि वासना भेद है, पदार्थ भेद नहीं। अनादि संसार चक्र में वासना और विज्ञान, बीज और अंकुर के समान एक दूसरे के कारण और कार्य बनते रहते हैं। शंकराचार्य के अनुसार बौद्ध दर्शन विज्ञानवाद इसी मत का प्रतिपादन करता है। परन्तु शंकराचार्य के अनुसार सहोपलम्भ केवल यही सिद्ध करता है कि विज्ञान और विषय की अनुभूति युगपद् होती है। इससे विज्ञान एवं अर्थ की एकता नहीं सिद्ध होती है, क्योंकि विज्ञान–सहचर होना विज्ञान–स्वरूप होना नहीं है, विज्ञान–ग्राह्य होना विज्ञानांश बनना नहीं है। लोक व्यवहार में बाह्य–पदार्थों की असंदिग्ध उपलब्धि होती है, जिसका व्यवहार में अपलाप नहीं किया जा सकता। अतः 'अर्थ' और 'ज्ञान' का भेद सिद्ध है। 'श्वेत गाय' और 'कपिल गाय' में श्वेतत्व और कपिलत्व भिन्न हैं, किन्तु गोत्व वही है। 'घट विज्ञान' और 'पट–विज्ञान' में 'घट' और 'पट' भिन्न हैं किन्तु विज्ञान एक है। इस प्रकार शंकराचार्य का कहना है कि–'तस्मादर्थज्ञानयोर्भेदः' अर्थात 'अर्थ' एवं 'विज्ञान' का भेद स्पष्ट है। शंकराचार्य का यह स्पष्ट अभिमत है कि यदि बाह्य–पदार्थ बन्ध्यापुत्र के समान नितान्त असत् एवं परिकल्पित हैं, तो बाह्य पदार्थ की कल्पना भी असंभव है। यदि बाह्य–पदार्थ न हो, तो विज्ञान उनका आकार ग्रहण नहीं कर सकता और बाह्य पदार्थों के समान प्रतीत नहीं हो सकता। सत्ता के बिना संभाव्यता के या समानता के विज्ञान की कल्पना असंभव है। यदि बाह्य पदार्थ न हों तो यह कथन भी संभव नहीं हो सकता कि विज्ञान–बहिर्वत् प्रतीत होता है। वस्तु का सम्भव या असम्भव होना उसके प्रमाणसिद्ध या प्रमाण–असिद्ध पर निर्भर करता है। व्यवहार में बाह्य–प्रमाण सब प्रमाणों के द्वारा सिद्ध है, अतः उसका निषेध नहीं किया जा सकता। शंकराचार्य का कहना है कि स्वप्न पदार्थों को और लौकिक पदार्थों को समान स्तर पर रखना अनुचित है क्योंकि विज्ञान भेद पदार्थ भेद के कारण है, वासना भेद के कारण नहीं हैं। वासनाएँ मानस संस्कार है और बिना अधिकरण के नहीं रह सकती। आलय विज्ञान भी प्रवृत्ति विज्ञान के समान क्षणिक होने के कारण वासनाओं का अधिकरण नहीं हो सकता। अतः विज्ञान भेद अर्थ भेद पर निर्भर नहीं है। पुनश्च शंकराचार्य का यह भी कहना है कि नित्य साक्षी चैतन्य ही समस्त ज्ञान का अधिष्ठान है, जिसका निराकरण असंभव। अतएव नित्य साक्षी का सत्ता को स्वीकार किये किसी प्रकार का ज्ञान या अनुभव संभव नहीं है। शंकराचार्य विज्ञानवाद का खण्डन निम्न तर्कों के आधार पर किया है–

4.2. 'नाभाव उपलब्धेः'

सूत्र द्वारा शंकराचार्य यह दिखाते है कि विज्ञान से अतिरिक्त पदार्थों का अभाव नहीं हो सकता, क्योंकि विज्ञान से अतिरिक्त पदार्थों की उपलब्धि होती है। हमारा प्रत्येक प्रत्यक्ष बाह्य वस्तुओं की ओर संकेत करता है। विज्ञानवादी इस बात को स्वयं स्वीकार करतें है, जब वे कहते हैं कि –'यदन्तर्ज्ञेयरूपं तद् बहिर्वदवभासते' अर्थात् ज्ञान के आन्तरिक विषय ही बाह्य वस्तुओं के रूप में प्रतीयमान होते हैं। यदि बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व न होता, तो यह भी नहीं कहा जा सकता था कि आन्तरिक विज्ञान ही बाह्य वस्तुओं के समान दिखायी पड़ते हैं। 'इतरथा हि कस्माद् बहिर्वदिति ब्रूयुः। नहि विष्णुमित्रो बन्ध्यापुत्रवदवभासत इति कश्चिदाचक्षीत' अर्थात् कोई भी समझदार व्यक्ति यह कहता हुआ नहीं पाया जा सकता कि विष्णुमित्र बन्ध्यापुत्र के समान दिखायी दे रहा है। इसी सन्दर्भ में शंकराचार्य ने धर्मकीर्ति से एक उद्धरण प्रस्तुत किया है– 'अविभागोऽपि बुध्दयात्मा

विपर्यासित दर्शनैः। ग्राह्यग्राहकसंवित्ति भेदवानिव लक्ष्यते' अर्थात् अद्वय चैतन्य ही भ्रान्तिवश ज्ञाताज्ञेय के द्वैतरूप में दिखायी पड़ता है। इसका खण्डन करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि–

"विज्ञानवादियों को यह नहीं कहना चाहिए कि आन्तरिक विज्ञान ही बाह्य वस्तुओं की भाँति दिखायी पड़ते हैं।"

'शंकर के अनुसार विज्ञान और वस्तुओं में तादात्म्य सम्बन्ध न होकर कार्य–कारण सम्बन्ध पाया जाता है। बिना बाह्य–वस्तुओं के विज्ञानों की उत्पत्ति ही नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि एक विज्ञान दूसरे विज्ञान से उत्पन्न करता है, अतः बाह्य वस्तुओं के कोई आवश्यकता नहीं है तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि इससे अनवस्था दोष की उत्पत्ति होगी। अतः बाह्य–वस्तुओं का अभाव नहीं है।

4.3. 'वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्'

सूत्र द्वारा शंकराचार्य यह दिखाते हैं कि स्वप्न आदि अवस्था के ज्ञान के समान जाग्रत अवस्था में हुए स्तम्भ आदि ज्ञान भी बाह्य अर्थ के बिना ही होने चाहिए, यह युक्त है, क्योंकि दोनों ज्ञानों प्रत्ययत्व समान है, ऐसा बाह्य ज्ञान का निषेध करने वालों ने जो कहा है, उसका प्रत्याख्यान करना चाहिए। इस विषय में शंकराचार्य कहते हैं कि जाग्रत ज्ञान, स्वप्न आदि के ज्ञान के समान नहीं हो सकते, किससे? इससे कि दोनों में वैधर्म्य है, क्योंकि स्वप्न और जाग्रत अवस्था के प्रत्यय में वैधर्म्य है। परन्तु वह वैधर्म्य क्या है? हम कहते हैं कि वह बाध और अबाध है, क्योंकि स्वप्न अवस्था में उपलब्ध वस्तु जाग्रत पुरूष को बाधित होती है। महाजन–समागम की मुझे जो उपलब्धि हुई थी, वह मिथ्या है, मुझे महाजन समागम हुआ नहीं, किन्तु मेंरे मन की निद्रा से ग्लानियुक्त होने से मुझे यह भ्रान्ति उत्पन्न हुई। उसी प्रकार मायादि में यथा योग्य बाध होता है। परन्तु जाग्रतावस्था में उपलब्ध हुई स्तम्भ आदि वस्तु किसी भी अवस्था में इस प्रकार बाधित नहीं होती और जो स्वप्न में दर्शन है, वह स्मृति है और जो जाग्रतावस्था में दर्शन है, वह उपलब्धि है।

शंकराचार्य का कहना है कि स्मृति एवं उपलब्धि में प्रत्यक्ष भेद स्वतः अनुभव में आता है, वह यह है कि प्रथम में अर्थ का विप्रयोग है और दूसरे में सम्प्रयोग है जैसे, दृष्ट पुत्र का स्मरण करता हूँ, उसको उपलब्ध नहीं करता, उपलब्ध करना चाहता हूँ, इस प्रकार की ऐसी स्थिति में दोनों उपलब्धियों के अन्तर का स्वयं अनुभव करता हुआ ऐसा नहीं कह सकता कि जाग्रत अवस्था की उपलब्धि मिथ्या है, उपलब्धि होने से स्वप्न की उपलब्धि के समान। जो अपने को प्राज्ञ मानते हैं उन पुरूषों को अपने अनुभव का निषेध करना युक्त नहीं है और अनुभव के साथ विरोध होने के भय से जाग्रत अवस्था के प्रत्यय स्वयं निराधार है। ऐसा कहने में असमर्थ स्वप्न प्रत्ययों के समान ये प्रत्यय हैं, इस प्रकार साधर्म्य से जाग्रत अवस्था के प्रत्यय निराधार हैं, ऐसा कहना चाहता है। परन्तु जो जिसका स्वतः धर्म नहीं हो सकता, वह अन्य के साधर्म्य से उसका धर्म नहीं हो सकता, क्योंकि अग्नि उष्ण है, ऐसा अनुभव होता है, वह उक्त साधर्म्य से शीतल नहीं हो सकती। स्वप्न और जाग्रत प्रत्ययों का बैधर्म्य तो दिखाया गया है।

4.4. 'नभावोऽनुपलब्धः'

सूत्र द्वारा शंकराचार्य यह स्पष्ट करते हैं कि विज्ञानवादी यह मानते हैं कि अर्थ (विषय के बिना भी वासना–वैचित्र्य से ही ज्ञान वैचित्र्य हो सकता है, किन्तु विज्ञानवादियों के इस दृष्टिकोण का शंकराचार्य प्रत्याख्यान करते हैं। उनका यह कहना है कि यदि बाह्य पदार्थों की अनुपलब्धि हो, तो वासनाओं की सत्ता उपपन्न नहीं हो सकती। अर्थ की उपलब्धि से प्रत्येक अर्थ में भिन्न–भिन्न रूप वाली वासनाएँ होती हैं। यदि अर्थ अनुपलभ्यमान हो, तो विचित्र वासनाएँ किस कारण से होंगी? वासना अनादि हैं, ऐसा मानने पर अन्ध–परम्परा से व्यवहार व लोप करने वाली निर्मूल अवस्था ही होगी, अभिप्राय सिद्ध नहीं होगा। बाह्य अर्थ का निषेध करने वाले वासना–निमित्त यह ज्ञान–समूह है, अर्थ–निमित्तक नहीं, इसकी सिद्ध के लिए जो अन्वय–व्यतिरेक का उपन्यास किया है, ऐसा होने पर उसका भी निराकरण किया हुआ समझना चाहिए क्योंकि अर्थ की उपलब्धि के बिना वासना उपपन्न नहीं होती और वासना के बिना भी अर्थ की उपलब्धि प्राप्त होती है। अर्थोपलब्धि के बिना वासना की उत्पत्ति का स्वीकार न होने से अन्वय–व्यतिरेक भी अर्थ के अस्तित्व का ही प्रतिष्ठापन करते हैं। अतएव यह कहा जा सकता है कि वासना संस्कार विशेष हैं और आश्रय के बिना नहीं हो सकती, क्योंकि ऐसा लोक में देखा जाता है और तुम्हारे मत में वासना का कोई आश्रय नहीं है, क्योंकि वह प्रमाण से अनुपलब्ध है।

4.5. 'क्षणिकत्वाच्च'

सूत्र के द्वारा शंकराचार्य यह दिखाते हैं कि आलयविज्ञान की वासनाओं के आश्रय से जो परिकल्पना की गयी है, वह भी क्षणिकत्व के स्वीकार से अस्थिर स्वरूप होने से प्रवृत्ति विज्ञान के समान वासनाओं का आधार नहीं हो सकता है। तीनों कालों के साथ सम्बन्ध रखने वाला एक अन्वयी सर्वार्थदर्शी कूटस्थ नित्य न हो तो, देश–काल निमित्त की अपेक्षा से जो वासनाओं के अधीन होता है, वह और इनके अधीन स्मृति, प्रतिसंन्धान आदि व्यवहार नहीं होगे। आलयविज्ञान को स्थिर स्वभाव मानने में तो सिद्धान्त की हानि होगी और विज्ञानवाद में भी क्षणिकत्व का स्वीकार समान होने से बाह्य विवाद में क्षणिकत्व के आधार पर रहने वाले 'उत्तरोत्पादेचपूर्वनिरोधात्' इत्यादि जो दूषण प्रकाशित किये गये हैं, उनका यहाँ भी अनुसन्धान करना युक्त है। इस प्रकार बाह्यार्थ पक्ष और विज्ञानवाद पक्ष, इन दोनों वैनाशिकों (बौद्धों) के पक्ष का निराकरण किया गया। शंकराचार्य का यह कहना है कि शून्यवादी पक्ष तो सब प्रमाणों से विरूद्ध है। अतः इसका निराकरण करने के लिए आदर नहीं किया जाता, क्योंकि बिना किसी एक तत्व को माने ज्ञान सर्वप्रमाण सिद्ध लोकव्यवहार का अपलाप नहीं किया जा सकता। अपवाद या निषेधात्मक उदाहरण सामान्य नियम के अभाव होने पर प्रसिद्ध होता है।

4.6. 'सर्वथानुपपत्तेश्च'

सूत्र के द्वारा शंकराचार्य विज्ञानवाद के सम्बन्ध में यह अभिमत व्यक्त करते हैं कि बहुत कहने से क्या प्रयोजन है? सब प्रकार से ज्यों–ज्यों इस वैनाशिक सिद्धान्त की उपपत्ति–युक्त करने के लिए परीक्षा की जाती है, त्यों–त्यों रेती में बनाये गये कुएं के समान विदीर्ण ही होता है, उसमें हम कुछ भी उपपत्ति नहीं देखते। इसमें हम कोई उपपत्ति को नहीं देखते हैं, जिसके कारण वैनाशिक शास्त्र

व्यवहार में अनुपपन्न है। बाह्यार्थवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद परस्पर विरूद्ध इन तीन वादों का उपदेश करते हुए सुगत (बुद्ध) ने अपनी असम्बद्ध प्रलापिता प्रकट की है अथवा विरूद्ध अर्थ के ज्ञान से ये प्रजाएँ मोह को प्राप्त हों या विमूढ़ हों, ऐसा प्रजाओं के प्रति अतिविद्वेष प्रकट किया है। शंकराचार्य के कहने का निहितार्थ यह है कि बौद्ध दर्शन सब प्रकार से असंगत होने से मुमुक्षुओं द्वारा आदरणीय नहीं है। बौद्ध स्वयं परस्पर विरूद्ध मतों का प्रतिपादन करते हैं, कोई बाह्यार्थवादी है, कोई विज्ञानवादी है तथा कोई शून्यवादी है। इस परस्पर विरोध के कारण कोई भी समझदार व्यक्ति बौद्ध दर्शन को स्वीकार नहीं कर सकता। सुगत का सिद्धान्त लोक और वेद के विरूद्ध होने के कारण भ्रान्तिमूलक है। अतएव कल्याण चाहने वालों को इस सुगत सिद्धान्त का सर्वथा अनादर करना चाहिए।

4.7. शंकराचार्य के विज्ञानवाद की आलोचना के पक्ष और विपक्ष

डॉ0 चन्द्रधर शर्मा ने अपनी पुस्तक 'बौद्ध दर्शन और वेदान्त' में यह प्रतिपादित किया है कि "शंकराचार्य ने केवल न्यायानुसारी या स्वतंत्र विज्ञानवाद का खण्डन किया है जिसको दिंग्नाग और धर्मकीर्ति तथा शान्तरक्षित ने प्रस्तावित किया है और असंग तथा बसुबन्धु के आगमानुसारी विज्ञानवाद का खण्डन नहीं किया है।"

यदि शंकराचार्य के खण्डन का गम्भीरतापूर्वक अवगाहन किया जाय, तो यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने आलय विज्ञान और विज्ञप्तिमात्रता का भी खण्डन किया है और ये मत बसुबन्धु और असंग के हैं। अतः उन्होंने प्राचीन तथा आगमानुसारी विज्ञानवाद का भी खण्डन किया है। पुनश्च आधुनिक विद्वानों ने प्रायः यह कहा है कि शंकराचार्य द्वारा की गयी विज्ञानवाद की आलोचना अद्वैतवेदान्तानुसारी नहीं है। इस आलोचना में उन्होंने बाह्यार्थ का अस्तित्व अर्थात् जगत् का अस्तित्व स्वीकार किया है। किन्तु यह स्वीकारोक्ति अद्वैत वेदान्त के मायावाद के विपरीत है। अतएव यह आलोचना न्यायदर्शन के अनुसार है।

प्रो0 संगम लाल पाण्डेय ने अपनी पुस्तक 'मूल शांकर वेदान्त' में यह दिखाया है कि "शंकराचार्यकृत विज्ञानवाद की आलोचना सर्वथानुकूल है। इस पक्ष में प्रो0 पाण्डेय तीन तर्क देते हैं–

(1) शंकराचार्य विज्ञानों से भिन्न कम से कम एक वस्तु की सत्ता को सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। यह सत्ता उनके मत से ब्रह्म या आत्मा है। विज्ञानवादी ऐसी अर्थात् विज्ञान से भिन्न किसी सत्ता को नहीं मानते हैं।

(2) शंकराचार्य बाह्य अर्थ को अनिर्वचनीय मानते हैं। बाह्य अर्थ सत् और असत् से विलक्षण है। विज्ञानवादी बाह्य अर्थ को असत् मानते हैं। इस प्रकार शंकराचार्य और विज्ञानवादियों में भेद है। अतः शंकर ने अपने सिद्धान्तों के अनुसार ही उनकी आलोचना की है।

(3) फिर अन्त में हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि शंकराचार्य की आलोचना में हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि शंकराचार्य की आलोचना विरोध परिहार के लिए है। वह दोष दर्शन या छिद्रान्वेषण के लिए नहीं है। यदि उसको हम परमतानुसार माने, तो फिर यह छिद्रान्वेषण के लिए ही होगी।

4.8. निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि शंकराचार्य ने बौद्ध विज्ञानवाद का निराकरण करते हुए यह दिखाया है कि बाह्य पदार्थो की सत्ता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसका सभी को प्रत्यक्ष अनुभूति होती है। किसी घट, पट या स्तंभ की प्रत्यक्ष अनुभूति करते हुए उसे नहीं मानना, वैसा ही होगा, जैसे भोजन करते हुए रसास्वादन को नहीं मानना। यदि साक्षात् उपलब्धि का विश्वास न किया जाय, तो विज्ञानों (मानसिक भावों या प्रत्ययों) की भी सत्ता को स्वीकार नहीं किया जा सकता यदि यह कहा जाएँ कि मानसिक प्रत्यय ही भ्रमवश बाह्य विषय के समान आभासित होते हैं, तो इसका कोई अर्थ नहीं निकलेगा। यदि कोई बाह्य पदार्थ सत्य न माना जाय, तो यह कहना उसी प्रकार का होगा, जैसे यह कहा जाय कि 'नहि विष्णुमित्रो बन्ध्यापुत्रवदवभासत्' अर्थात् विष्णुमित्र बन्ध्यापुत्र के समान प्रतीत होता है। इसलिए जब तक घट, पट आदि प्रत्यक्ष भिन्न–भिन्न विषयों की सत्ता नहीं मानी जाती, तब तक घट ज्ञान को पट ज्ञान से पृथक् नहीं किया जा सकता, क्योंकि ज्ञान दोनों में ही है। जहाँ तक स्वप्न विषय और प्रत्यक्ष विषय के समानता की बात विज्ञानवादियों द्वारा की जाती है, तो इन दोनों में ही महान अन्तर है। स्वप्न के विषय जाग्रत अवस्था के अनुभव से बाधित होते हैं, किन्तु प्रत्यक्ष विषय का बाध तभी संभव है, वह भ्रान्तिमूलक हो। वास्तविकता यह है कि जाग्रत अवस्था कि प्रत्यक्ष विषय तब तक असत् नहीं कहे जा सकते, जब तक कि किसी प्रमाण द्वारा बाधित (मिथ्या प्रमाणित) नहीं होते। इस प्रकार विज्ञानवाद तर्क द्वारा यह सिद्ध नहीं कर पाता कि बाह्य पदार्थों की सत्ता नहीं है। बृहदारण्यकभाष्य में शंकराचार्य यह कहते हैं कि– शास्त्रार्थ यानी वाद–विवाद और वादी– प्रतिवादी को कोई अपना विज्ञान मात्र नहीं कह सकता, उनकी अलग सत्ता माननी ही पड़ेगी। यह कहना बड़ा ही विचित्र होगा कि मेंरा ही एक विज्ञान दूसरे विज्ञान से वाद–विवाद और उसका खण्डन कर रहा है। अतएव बौद्ध विज्ञानवाद द्वारा बाह्य अर्थ (विषय) के बिना विज्ञान की सत्ता का ही प्रतिपादन करना अयुक्त है।

प्रश्नावली

लघु उत्तरीय प्रश्न–

1. बौद्ध विज्ञानवाद क्या है?
2. 'नाभावोऽनुपलब्धः' की व्याख्या कीजिए।
3. 'क्षणिकत्वाच्च' की विवेचना कीजिए।
4. 'सर्वथानुपपत्तेश्च' की चर्चा कीजिए।
5. बौद्ध दर्शन प्रत्यक्ष की सत्ता को किस प्रकार स्पष्ट करता है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न–

1. बौद्ध दर्शन के योगाचार मत की आलोचना शंकराचार्य ने किन युक्तियों के आधार पर की है पर एक निबन्ध लिखिए।
2. शंकराचार्य के विज्ञानवाद की आलोचना के पक्ष और विपक्ष में अपने तर्क दीजिए।

****

इकाई–5

शंकराचार्य द्वारा माध्यमिक (शून्यवाद) की आलोचना

संरचना

5.0 उद्देश्य

5.1. प्रस्तावना

5.2. माध्यमिक सम्प्रदाय में शून्यवाद का अर्थ और महत्व

5.3. शून्यवाद का तर्क और दर्शन

5.4. नागार्जुन के अनुसार सत् के दो रूप

3.5. माध्यमिक पर नास्तिक एवं सर्वनिषेधवादी होने का आरोप

5.6. माध्यमिक दर्शन में परमार्थ तत्व रूप निर्वाण

5.8. माध्यमिक का शून्यवाद और शंकराचार्य का अद्वैत वेदान्त

5.9. निष्कर्ष

5.0 उद्देश्य

बौद्ध दर्शन के माध्यमिक (शून्यवाद) और शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में काफी साम्य है। माध्यमिक दर्शन में महात्मा बुद्ध के निरपेक्ष अद्वैतवाद का पर्याप्त विकास हुआ है। यद्यपि बौद्ध दर्शन के माध्यमिक सम्प्रदाय ने अपने शून्यवाद को उपनिषदों से ग्रहण किया है और तत्व को स्वभाव शून्य मानते हुए उसका निषेधात्मक रूप में वर्णन किया है एवं तत्व के लिए निर्वाण शब्द का प्रयोग किया है, किन्तु दोनों तर्क पद्धति और वर्णनशैली में अन्तर है। माध्यमिक दर्शन में स्पष्ट रूप से निर्वाण या तत्व को शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त के समान आत्मा या विज्ञान या ब्रह्म नहीं कहा गया है। शंकराचार्य ने माध्यमिक दर्शन का अद्वैत वेदान्त से भिन्नता दिखाने के लिए माध्यमिक मत का भी खण्डन किया है।

5.1. प्रस्तावना

प्रायः यह माना जाता है कि भगवान् बुद्ध के दर्शन का माध्यमिक सम्प्रदाय द्वारा जो प्रतिपादन किया गया है, वह आध्यात्मिक अद्वैतवाद या निरपेक्ष तत्ववाद है। माध्यमिक सम्प्रदाय के दार्शनिकों ने यह प्रतिपादित किया है कि तत्व निर्वाण है जो अतीन्द्रिय निर्विकल्प तथा अनिर्वचनीय है तथा स्र्वानुभूतिगम्य है। इसलिए माध्यमिक यह मानते हैं कि स्वानुभूति व बोधि इस दुःखरूप अविद्याजन्य संसार चक्र की निवृत्ति है। इसीलिए यह माना जाने लगा कि माध्यमिक दर्शन में भी अद्वैतवाद का ही विकास हुआ है, क्योंकि माध्यमिक दर्शन बौद्ध दर्शन के जिन मूल सिद्धान्तों के पृष्ठभूमि में अपने सिद्धान्तों को विकसित करता है, उसमें न तो लोक–व्यवहार

के प्रमाता का खण्डन होता है और न ही उपनिषद् के स्वयं सिद्ध नित्य चैतन्य का ही खण्डन होता है। यद्यपि स्वतःसिद्ध और स्वप्रकाश ज्ञान के लिए आत्मा पद का प्रयोग और उसका ब्रह्म से तादात्म्य उपनिषद् के ऋषियों के दर्शन की एक महान देन है, किन्तु माध्यमिक दर्शन में उसे आत्मा या ब्रह्म की सत्ता के रूप में न ग्रहण कर उसे 'निर्वाण' के रूप में व्यक्त किया है। शंकराचार्य ने जिन विशेषणों का प्रयोग अपने अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म या आत्मा के निरूपण में प्रयुक्त करते हैं, उन विशेषणों का प्रयोग माध्यमिक निर्वाण या शून्य के लिए करते हैं। इसीलिए कुछ लोग शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त के बीज को माध्यमिक दर्शन में निहित होने के कारण उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध तक कहते हैं। शंकराचार्य ने अपने अद्वैत वेदान्त में माध्यमिक शून्यवाद की भी आलोचना इसीलिए करते हैं, जिससे कि उनके अद्वैत वेदान्त को माध्यमिक दर्शन का ही तार्किक विकास समझे जाने की भूल न की जाएँ।

5.2. माध्यमिक सम्प्रदाय में शून्यवाद का अर्थ और महत्व

नागार्जुन द्वारा प्रणीत तथा अश्वघोष द्वारा समर्थित बौद्ध दर्शन के माध्यमिक सम्प्रदाय का 'शून्यवाद' अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं केन्द्रीय सम्प्रदाय है। माध्यमिक शून्य को तत्व, निर्वाण परमार्थ के अर्थ में ग्रहण करने के साथ–साथ इसे संसार, व्यवहार एवं असत् के रूप में भी ग्रहण किया है। वस्तुतः व्यवहार में शून्य का अर्थ है–'स्वभावशून्य' और परमार्थ में शून्य का अर्थ है– प्रपन्चशून्य। स्वभावशून्य का अर्थ है– स्व अर्थात् अपनी निजी और 'भाव' का अर्थ है– स्वतंत्रता। अतएव अपनी निजी स्वतंत्रता से शून्य या रहित होना स्वभावशून्यता है। माध्यमिक दर्शन में स्वभाव–शून्य व्यवहार रूप में स्वभाव सापेक्षता है, किन्तु पारमार्थिक रूप में निर्वाण रूपी निरपेक्षता है। इसीलिए नागार्जुन ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि– "जो प्रतीव्यसमुत्पाद है, वही शून्य है और वही मध्यमाप्रतिपद है। अविद्याप्रसूत भवचक्र की दृष्टि से यह स्वभावशून्य धर्मों की प्रतीति है, व्यवहार है, सपेक्ष है, उपादान या आसक्तिजन्य है, यही बोध की दृष्टि से उपादान रहित निरपेक्ष या वास्तविक सत्ता है, प्रपंचशून्य एवं शिव तथा निर्वाण एवं परमार्थ है। वस्तुतः संसार और निर्वाण में कोई अन्तर नहीं है।"

5.3. शून्यवाद का तर्क और दर्शन

शून्यवाद या माध्यमिक बुद्धोपदिष्ट अद्वैतवाद की विचारधारा का ही प्रतिपादन करता है। शून्यवाद में तत्व को चतुष्कोटिविनिर्मुक्त माना गया है। माध्यमिक द्वन्द्वात्मक तर्क के आधार पर यह दिखाते हैं कि बुद्धि की कोटियाँ नैसर्गिक रूप से अन्तर्विरोधग्रस्त होती हैं। अतएव बुद्धि के आधार पर पक्ष या विपक्ष की सत्यता का निश्चय नहीं किया जा सकता और उसमें अन्तर्विरोध का आना अनिवार्य है। इस प्रकार माध्यमिक के तर्क का प्रयोजन आध्यात्मिक है, यह बताना है कि तत्व बुद्धिगम्य नहीं है, अपितु स्वानुभूतिगम्य है। अतएव बौद्धिक वाद–विवाद की अपेक्षा आध्यात्मिक साधना द्वारा निरपेक्ष अद्वैत तत्व का साक्षात्कार करना जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। माध्यमिक दर्शन में पारमार्थिक प्रतीत्यसमुत्पाद प्रपन्च निषेधमात्र है, वह प्रपन्चशून्य तत्व है वह शिव है, वह अखण्ड आनन्दरूप निर्वाण है। माध्यमिक दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद वास्तविकता कारण–कार्यवाद नहीं है, क्योंकि प्रतीव्यसमुत्पाद, परमार्थतः अनुत्पाद है। यहाँ संवृत्ति, व्यवहार, प्रतीति, अविद्या और उपादान आदि प्रपन्च का सर्वथा विलय है। प्रतीत्यसमुत्पाद का

व्यवहारिक रूप अविद्याजन्य जन्ममरण चक्र है, उत्पाद–निरोध आदि प्रपन्च है। यह कारण–कार्यभाव सापेक्ष है, बुद्धि–विकल्पजन्य है, अविद्या–प्रसूत है, अतः इसकी सत्यता प्रतीतिक अथवा व्यावहारिक है। परमार्थ निरपेक्ष अद्वैत तत्व है।

नागार्जुन ने अजातिवाद के उद्घोष से सर्वप्रथम तात्विक कारण–कार्यवाद के खण्डन से अपने ग्रन्थ 'माध्यमिककारिका का प्रारम्भ करते हुए कहा है कि–

न स्वतो, नापिपरतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।

उत्पन्ना जातु विद्यन्ते भावाः क्वचन केचन।।

अर्थात कोई भी पदार्थ कभी , कहीं और कथमपि उत्पन्न नहीं हो सकता, कोई पदार्थ न अपने आप (स्वतः) उत्पन्न हो सकता है न दूसरे कारण से (परतः), न अपने और दूसरे दोनों ही कारण (द्वाभ्याम) और बिना कारण (अहेतुतः) उत्पन्न हो सकता है। इस प्रकार नागार्जुन सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद दोनों का ही खण्डन करते हैं। उनके अनुसार सत्कार्यवाद में कार्य उत्पत्ति के पूर्व ही कारण में विद्यमान रहने के कारण उसकी पुनरूत्पत्ति मानना व्यर्थ है। असत् कार्यवाद में कारण और कार्य नितान्त भिन्न होने के कारण किसी भी कारण से कोई भी कार्य उत्पन्न हो सकता है। अतएव सत्कार्यवाद और असत्कार्यवाद दोनों ही दोष युक्त हैं। स्वतः एवं परतः उत्पाद मानना युक्ति विरूद्ध है, क्योंकि प्रकाश और अन्धकार के समान दो परस्पर विरूद्ध धर्म एक साथ एक स्थान पर नहीं रह सकते। अहेतुक उत्पाद तो कारणकार्यभाव का ही निषेध है। अतः जाति या उत्पत्ति असंभव है और उत्पत्ति के अभाव में निरोध असंभव है। यही कारण है कि नागार्जुन माध्यमिक दर्शन में संसार और निर्वाण, संवृत्ति और परमार्थ, इन सभी को बुद्धि ग्राह्य धर्मों के रूप में सापेक्ष, स्वभावशून्य और प्रतीतिमात्र मानते हैं और अतीन्द्रिय निर्विकल्प और अनिर्वचनीय तत्व के रूप में तत्व को प्रपंचशून्य, निर्वाण एवं परमार्थ माना है, जिसका बौद्धिक ज्ञान या निर्वचन संभव नहीं है।

5.4. नागार्जुन के अनुसार सत् के दो रूप

नागार्जुन का कथन है कि भगवान बुद्ध ने दो प्रकार के सत्य का निरूपण किया है–

द्वे सत्ये समुपाश्रित्य बुद्धानां धर्मदेशना।

लोक संवृत्तिृसत्यंच सत्यं च परमार्थतः।।

येऽनयोर्न विजानन्ति विभागं सत्योर्द्वयः।

ते तत्वं न विजानन्ति विभागं सत्योर्द्वयः।।

अर्थात् एक तो लोक संवृति सत्य है और दूसरा परमार्थ सत्य। जो इस विभाग को नहीं जानते, वे भगवान् बुद्ध के गम्भीर दर्शन के रहस्य को कदापि नहीं समझ सकते संवृति तो अज्ञान है, जो 'आवरण' और विक्षेप दोनों है। ये तत्व के वास्तविक स्वरूप को आवृत्त कर देती है तथा उसकी अन्यथा प्रतीति कराती है। संवृत्ति सापेक्ष कारणकार्यभाव है। संवृत्ति प्रज्ञप्ति है, संकेत है, लोक व्यवहार है। संवृत्ति बुद्धि विकल्पों द्वारा कार्य करती है, अतः बुद्धि को ही संवृत्ति कहा जाता है। बुद्धि विकल्प ही स्वयं अविद्या का रूप लेता है। स्पष्ट है कि माध्यमिक के संवृत्ति और परमार्थ का विभाग अद्वैत वेदान्त के व्यवहार और परमार्थ के विभाग के समान है। चन्द्रकीर्ति ने संवृत्ति को लोक संवृत्ति और मिथ्या संवृत्ति में विभक्त

किया है। लोक संवृत्ति वेदान्त के व्यवहार हैं और मिथ्या संवृत्ति वेदान्त के प्रतिभास के समान है। संवृत्ति मूलाविद्या, व्यक्तिगत अविद्या नहीं अतएव संवृत्ति का निरोध प्रज्ञा द्वारा संभव है, बौद्धिक ज्ञान द्वारा नहीं, क्योंकि यह स्वयं बुद्धि विकल्प रूप है। इस प्रकार संवृत्ति प्रपंच सापेक्ष और स्वभावशून्य है, किन्तु नितान्त असत् नहीं है, उसकी व्यावहारिक सत्ता अक्षुण्ण है। वैसे संवृत्ति और परमार्थ का भेद तात्विक नहीं है, सत्य तो केवल परमार्थ है। संवृत्ति को लोक व्यवहार के लिए सत्य मान लिया जाता है, वस्तुतः वह सत्य नहीं है। परन्तु संवृत्ति का बाध परमार्थ का साक्षात्कार होने पर संभव है।

3.5. माध्यमिक पर नास्तिक एवं सर्वनिषेधवादी होने का आरोप

आचार्य नागार्जुन का कथन है कि प्रतिपक्षी माध्यमिक पर 'नास्तिक' होने का और 'सर्वनिषेधवादी' होने का आरोप लगाते हैं। इन लोगों को 'शून्यता' शब्द का सही अर्थ भी ज्ञात नहीं है, उसके महत्व की बात ही क्या। शून्यता का अर्थ नितान्त असत् या सर्व निषेध नहीं है। उसका अर्थ प्रतीत्यसमुत्पाद है, जो सापेक्ष रूप में अविद्याजन्य कारणकार्यभाव के रूप में संसार चक्र है, जो स्वभावशून्य और मिथ्या है, किन्तु व्यवहार में संवृति सत्य है और यही प्रतीत्यसमुत्पाद, निरपेक्ष रूप में, अप्रतीत्य और अनुपादान के रूप में निर्वाण है, प्रपन्चशून्य और शिव तथा अद्वैत स्वभावशून्य जगत् की सापेक्ष सत्ता शून्यता के कारण है अन्यथा जगत् नितान्त असत् हो जाएगा। हमारे प्रतिपक्षी जगत् की तात्विक सत्ता बचाने के चक्कर में उसकी व्यावहारिक सत्ता भी खो बैठते हैं। अतएव हम नहीं, वे ही नास्तिक हैं।

पुनश्च, नागार्जुन का यह भी कहना है कि यदि संसार प्रतिपक्षी के अर्थ में 'शून्य' है, तो नितान्त असत् हो जाएगा, तब वह शशश्रृंग और बन्ध्यापुत्र के समान होगा और तब उत्पाद तथा निरोध, दुःख समुदय तथा दुःख–निरोध, संसार तथा निर्वाण, आर्य–सत्य, धर्म, संघ और बुद्ध भी असंभव होंगे। हम संसार को सदसदनिर्वचनीय या 'सापेक्ष' मानते हैं। संवृत्ति और परमार्थ के सांवृत भेद को मानकर ही संसार के समस्त पदार्थों की सापेक्ष तथा व्यावहारिक सत्ता सिद्ध की जा सकती है। वस्तुवादी संसार की तात्विक सत्ता को बचाने के प्रयास में उसकी व्यावहारिक सत्ता से भी हाथ धो बैठते हैं और असत्वादी नास्तिकों के पास आत्मघाती सर्वनिषेध के अतिरिक्त कुछ नहीं रह जाता है।

नागार्जुन यह कहते हैं कि जो लोग 'शून्यता' का अर्थ 'असत्' या 'नास्तित्व' रूपी कोटि में लेते हैं, वे लोग यह नहीं समझते हैं कि 'शून्यता' दृष्टिशून्यता है। अब यदि कोई इस 'दृष्टिशून्यता' में भावाभिनिवेश रखकर इसे शून्यता दृष्टि समझ लें, तो उसे बुद्ध ने 'नष्ट–प्रणष्ट' और असाध्य कहा है। जब संसार की वास्तविक सत्ता नहीं है, तो उसकी प्रतीति और निरोध रज्जुसर्पवत् है। यदि कोई दुकानदार किसी ग्राहक से कहे कि "मैं तुम्हें कुछ नहीं दूँगा" इस पर वह ग्राहक कहे, अच्छा, तुम मुझे यह "कुछ नहीं" ही दे दो, तो उस मूर्ख ग्राहक को कैसे समझाया जाय? रत्नकूटसूत्र में बुद्धवचन है– शून्यता धर्मों को शून्य नहीं बनाती, धर्म स्वयं ही शून्य है। इसी सूत्र में आगे कहा गया है कि–हे कश्यप। शून्यता में भावाभिनिवेश रखने वालों को मैं नष्ट–प्रणष्ट कहता हूँ। शून्यता सब दृष्टियों का निःसरण है। नागार्जुन का कथन है कि शून्यता का कोटि के रूप में अन्यथाग्रहण उतना ही विनाशकारी है, जितना किसी विषैले सर्प को असावधानी से पकड़ने या पठित मूर्ख होना या तंत्र–साधना में भ्रष्ट होना। इस प्रकार 'शून्यता' का अन्यथाग्रहण विनाश है और इसका सत्सेवन अमृत रूप निर्वाण है।

5.6. माध्यमिक दर्शन में परमार्थ तत्व रूप निर्वाण

माध्यमिक दर्शन में 'निर्वाण' चतुष्कोटिविनिर्मुक्त है। निर्वाण निरपेक्ष अद्वैत तत्व है। 'निर्वाण' को सर्वदृष्टि प्रहाण माना गया है। चन्द्रकीर्ति ने उसे निरवशेषकल्पनारूप क्षय कहा है। वह प्रपंचोपशम और शिव है, शान्त और स्वानुभूतिगम्य है। निर्वाण ही शून्यता है, यही सब धर्मों की धर्मता है। जो प्रतीति और उपादान की दृष्टि से, आवागमन दृष्टि से आवागमन रूपी संसार है, वही प्रतीत्य और अनुपादान की दृष्टि से निर्वाण है। तत्व प्रपन्चशून्य अद्वैत और शिव है। व्यवहार के बिना परमार्थ का उपदेश नहीं दिया जा सकता और बिना परमार्थ को जाने निर्वाण प्राप्ति असंभव है।

माध्यमिक दर्शन के विरोध में उसके प्रतिपक्षियों का यह कहना है कि जगत् के सम्पूर्ण धर्मों को असत् कहने वाली शून्यता स्वयं असत्य है, क्योंकि शून्यता के सिद्ध में कोई प्रमाण नहीं है और यदि है, तो माध्यमिक को कम से कम अपने प्रमाणों को सत्य मानना पड़ेगा तथा उससे उसकी प्रतिज्ञा नष्ट हो जाएँगी।

नागार्जुन प्रतिपक्षी के आरोप का उत्तर देते हुए कहते हैं कि जगत् के सम्पूर्ण धर्मों को मिथ्या कहने वाली शून्यता सत्य है, क्योंकि बुद्धि और वाणी का मिथ्यात्व शून्यता को मिथ्या नहीं कर सकता। शून्यता का अर्थ असत् नहीं, अपितु प्रतीत्यसमुत्पाद है। हमारे प्रमाण हमारी प्रतिज्ञा को नष्ट नहीं करते। हम यह नहीं कहते कि 'हमारा वचन सत्य है और शेष मिथ्या है।' यदि हम ऐसा कहते हैं, तो हम पर किये गये आक्षेप सत्य होते हैं। हम कहते हैं कि वाणी और बुद्धि के सब धर्म मिथ्या है यह कथन भी हमारी प्रतिज्ञा नहीं है। हम तो प्रतिपक्षी के कथन को कि 'सब धर्म सत्य है' उसी के प्रमाणों और तर्कों से अन्तर्विरूद्ध और मिथ्या सिद्ध करते हैं। परमार्थ हमारी कोई प्रतिज्ञा नहीं है और न कोई प्रमाण है। यह कथन भी कि 'शून्यवादी प्रत्येक वस्तु का प्रतिषेध करते है' प्रतिपक्षी द्वारा हम पर लगाया गया मिथ्या आरोप है। वस्तुतः हम किसी का प्रतिषेध नहीं करते और न कोई प्रतिषेध्य वस्तु है, क्योंकि तत्व विधि–निषेध से अतीन्द्रिय है।

नागार्जुन का कहना है कि माध्यमिक दर्शन पर आरोप लगाने वाले प्रतिपक्षियों का यह भी कहना है कि जब सब मत असिद्ध हैं, तो स्वयं यह भी मत, मत होने के कारण असिद्ध है। चन्द्रकीर्ति का उत्तर है कि यह आक्षेप उन पर लागू होता है, जो तर्क या अनुमान की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करते हों। हमारी न तो अपनी कोई प्रतिज्ञा है और न कोई प्रमाण। हम तो व्यवहार के स्तर पर, प्रतिपक्षी द्वारा स्वीकृत प्रमाण और तर्क पद्धति से ही प्रतिपक्षी के मत में अन्तर्विरोध दिखकर उसे असिद्ध बताते हैं। हमारे तर्क का फल केवल पर प्रतिज्ञा निषेध है और यह तर्क भी हमारा अपना नहीं है। यह प्रतिपक्षी द्वारा स्वीकृत तर्क है और इसी तर्क से उसकी प्रतिज्ञा का निषेध किया जाता है। इसे प्रसंगापादान–पद्धति कहते हैं। माध्यमिक प्रत्येक मत का उसके अन्तर्विरोध ग्रस्त होने के कारण निराकरण करता है।

चन्द्रकीर्ति ने माध्यमिक दर्शन पर लगे नास्तिकता के आरोप को भी अनुचित मानते हैं। उनका यह कहना है कि माध्यमिक नास्तिक नहीं है। हम तो अस्तित्व और नास्तित्व इन दोनों वादों का निरास करके निर्वाणपुर की ओर ले जाने वाले अद्वय मार्ग को प्रकाशित करते हैं। जब तक तत्त्वाधिगम न हो जाय, तब तक संवृति सत्य का महत्व अक्षुण्ण रहेगा, विशेषतः मोक्ष साधना के लिए नास्तिक तो प्रत्येक वस्तु का मूर्खतापूर्ण अपवाद करता है, माध्यमिक बुद्धि–विकल्पों

का तार्किक परीक्षण करके बुद्धि ग्राह्य पदार्थो को मिथ्या जानता है, नास्तिक असद्वादी है, माध्यमिक सापेक्षवादी है। माध्यमिकों को जगत् की व्यावहारिक सत्ता मान्य है। अतः माध्यमिक नास्तिक नहीं है।

शून्यता पुद्गल नैरात्म्य एवं धर्मनैरात्म्य दोनों है– माध्यमिक दर्शन में शून्यता पुद्गल नैरात्म्य एवं धर्म नैरात्म्य दोनों है। माध्यमिक ने धर्मों को भी अनात्य एवं शून्य बतलाया है। पुद्गल नैरात्म्य से क्लेषावरण अर्थात् अहंकार–ममकारजन्य दुःख का क्षय तथा धर्मनैरात्म्य से ज्ञेयावरण अर्थात् वस्तु के अन्यथा ज्ञान का क्षय होता है। इन द्विविध आवरणों का क्षय शून्यता है। शून्यता दुःखों का शमन करने वाली शून्यता ही निर्वाण है, अमृत, अभय एवं शिवतत्व है। शान्तिदेव द्वारा 'बोधिचयवतार' में वर्णित 'बोधिचित्त' स्वानुभूति रूप शुद्ध ज्ञान है। यह एक अशुद्ध मरणशील मानव को परम विशुद्ध बुद्ध बना देता है। वास्तविकता यह है कि शून्यवाद में आत्मवाद एवं अनात्मवाद, शाश्वत एवं उच्छेदवाद, नित्यवाद और अनित्यवाद, से सब बुद्धिविकल्प हैं, सापेक्ष और मिथ्या है, अतः इनसे ऊपर उठकर अपरोक्षानुभूति क्षरा अद्वैत तत्व के साक्षात्कार का उपदेश दिया है। इस प्रकार बुद्धि का उपदेश सर्वदृष्टिप्रहाण के लिए है। शून्यता चतुष्कोटि विनिर्मुक्तता है। प्रपन्चशून्य तत्व बुद्धि विकल्पातीत और वाणी द्वारा अग्राह्य होने के कारण अनिर्वचनीय है। स्वभाव शून्य संसार भी सदसदनिर्वनीय है सदसद्विलक्षण है व्यवहार में सत्य है, किन्तु परमार्थतः मिथ्या है। नागार्जुन की घोषणा है– "भगवान् बुद्ध ने सदसदनिर्वचनीय शून्यता का उपदेश दिया। यह शून्यता बुद्ध के उपदेश का अमृत है।

माध्यमिक दर्शन में शून्यतावाद वह निरपेक्ष तत्व जो समस्त संसार में व्याप्त है और संसारातीत भी है। तत्व 'धर्म' (पदार्थ या विषय) नहीं है, वह सब धर्मों में व्याप्त 'धर्मता' है। तत्व ही धर्मों के रूप में भासित होता है। अतः परमार्थतः निरपेक्ष तत्व और सापेक्ष संसार में कोई भेद नहीं है। संसार और निर्वाण 'बन्धन और मोक्ष' जगत और तथागत, वस्तुतः अभिन्न हैं जो तत्व अविद्या और आसक्ति प्रतीत्यसुत्पन्न, जन्म–मरण चक्र के रूप में प्रतीत हो रहा है, वहीं, प्रज्ञा और अनासक्ति से प्रपंचोपशम शिव निर्वाण है। जगत और तथागत दोनों निःस्वभाव है, जगत स्वभावशून्य होने के कारण निःस्वभाव है और तथागत 'स्व' और 'पर' भावादि बुद्धि विकल्पातीत होने के कारण निःस्वभाव है। अविद्या–निरोध, सर्वदृष्टिप्रहण, निरवशेष कल्पनाक्षय ही निर्वाण है, जो अपरोक्षानुभूति–रूप निरपेक्ष और शिव अद्वैत तत्व है निर्वाण किसी अप्राप्त नयी अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति नहीं है। निर्वाण में निर्वाण प्राप्ति का बोध भी नहीं रहता। अविद्या निरोध ही निर्वाण है, अतः बन्धन और मोक्ष संवृत्ति में ही संभव है। वस्तुतः न तो संसार का लय होता है न 'निर्वाण' की प्राप्ति होती है। जो सत् है, उसका विनाश असंभव है, क्योंकि उसकी त्रिकालाबाध सत्ता है, जो असत् है वह शशश्रृंगवत् तुच्छ है और उसक विनाश का प्रश्न नहीं उठता। अतः जो सदसदनिर्वचनीय या मिथ्या है, उसी का प्रतीत्यसमुत्पाद की सापेक्ष दृष्टि से, उत्पाद और विनाश होता है। वस्तुतः तो वह भी अनुत्पन्न और अनिरूद्ध है। अतः केवल अविद्या ही आती और जाती है, क्योंकि अविद्या भ्रान्ति है, इसलिए उसका आवागमन 'अनागम् अनिर्गम्' अर्थात् भ्रान्ति है।

5.8. माध्यमिक का शून्यवाद और शंकराचार्य का अद्वैत वेदान्त

माध्यमिक दर्शन और शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में अत्यधिक समरूपता है। बुद्ध के समान माध्यमिक ने भी तत्व का वर्णन निषेध–मुख से किया है और

तत्व के लिए 'निर्वाण' पद का प्रयोग किया है। माध्यमिक के परमार्थ, तथ्य संवृत्ति और मिथ्या संवृत्ति वेदान्त के परमार्थ, व्यवहार और प्रतिभास के समान है। माध्यमिक के अजादिवाद का अनुमोदन गौडपादाचार्य ने किया है। श्री हर्ष ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि माध्यमिक और वेदान्त के तर्कों का खण्डन नहीं हो सकता। परन्तु माध्यमिक दर्शन और अद्वैत वेदान्त में विद्यमान समानता के बावजूद इन दोनों के बीच कई ऐसे बिन्दु हैं, जिन पर मतभेद पाया जाता है। माध्यमिक ने परमतत्व को 'आत्मा' या नित्य स्वप्रकाश ब्रह्म की संज्ञा से अभिहित नहीं किया है। माध्यमिक का आग्रह तत्व साक्षात्कार पर तत्व के विधि रूप निरूपण पर नहीं है। नागार्जुन ने तत्व का वर्णन करते हुए स्पष्ट रूप से कहा है कि– "तत्व अपर प्रत्यय अर्थात् ' स्वानुभूतिगम्य, शान्त, प्रपंचशून्य, निर्विकल्प और अद्वय रूप है। उन्होंने प्रतीत्यसमुत्पाद को उत्पत्ति बिनाश रहित, प्रपंचोपशम और शिव कहा है।"

नागार्जुन द्वारा किया गया उपर्युक्त वर्णन शंकराचार्य के ब्रह्म या आत्मा के वर्णन के समान है। यद्यपि नागार्जुन माध्यमिक दर्शन में स्पष्ट रूप से तत्व या या शून्य को आत्मा या ब्रह्म या विज्ञान या आनन्द नहीं कहा है, तथापि अर्थापत्ति से यही भाव निकलता है, क्योंकि जो स्वानुभूतिगम्य, प्रपंचोपशम और शिव है, वह विज्ञानानन्दस्वरूप ही हो सकता है। इस प्रकार बौद्ध दर्शन के माध्यमिक का निर्वाण–बोधि या प्रज्ञा भी अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म के साक्षात्कार के समान है।

माध्यमिक दर्शन के शून्यवाद का ही परिष्कृत रूप शंकराचार्य का अद्वैत वेदान्त है, इसलिए शंकराचार्य ने माध्यमिक आलोचना में मात्र इतना ही कहा है कि– "शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणाय नादरः क्रियते, न ह्यायं सर्वप्रमाण प्रसिद्धो लोकव्यवहारोऽन्यत् तत्त्वमनधिगम्य शक्यतेऽपह्नोतुम्" अर्थात् शून्य शब्द को साधारण प्रचलित 'नितान्त असत्' के अर्थ में लेकर शून्यवाद को सब प्रमाणों से असिद्ध स्वव्याघाती सर्वनिषेध कहकर उसे निराकरण के अयोगय मान लिया है, क्योंकि सब प्रमाणों से सिद्ध इस लोक व्यवहार का बोध परतत्व के साक्षात्कार के बिना नहीं किया जा सकता। यह तो सिद्ध है कि शून्यवाद सर्वनिषेधवाद न होकर निरपेक्ष अद्वैतवाद है। ऐसा लगता है कि संभवतः शून्यवाद में अद्वैतवाद के विद्यमान विचारों के कारण ही उसकी आलोचना से बचने के प्रयास में शंकराचार्य शून्यवाद को सर्वनिषेधवाद के प्रचलित अर्थ में लेकर उसकी आलोचना को टाल गये हैं।

5.9. निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि माध्यमिक ने स्पष्ट रूप से अपने निरप्रेक्ष तत्व को स्वप्रकाश नित्य विज्ञान या आत्मचैतन्य की संज्ञा नहीं दी है, फिर भी उसका तात्पर्य इसी से है। तत्व को अनिर्वचनीय मानकर माध्यमिक निषेधमुख से उसका वर्णन किये हैं। माध्यमिक की ही भाँति वेदान्त भी 'नेति–नेति' के द्वारा निषेधमुख वर्णन को प्राधान्य देता है, किन्तु व्यवहार में वेदान्त तत्व के विधानात्मक वर्णन को भी आवश्यक मानता है। शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त के अनुसार स्वप्रकाश और स्वतःसिद्ध आत्मचैतन्य को स्वीकार किये बिना परमार्थ और व्यवहार की सिद्धि संभव नहीं है। इस विषय में वेदान्त निश्चय ही माध्यमिक दर्शन से श्रेष्ठ है। इसलिए यह कहा जा सकता है कि औपनिषद अद्वैतवाद के

विकास में माध्यमिक दर्शन पूर्वभूमि है और वेदान्त उत्तरभूमि है। माध्यमिको ने अद्वैतवाद का विकास भगवान् बुद्ध के उपदेशों के प्रकाश में किया और वेदान्त ने अद्वैत को अपने मूल प्रस्थान उपनिषद् से ग्रहण करके अपने श्रौत परम्परा के रूप में विकसित किया। अतः अद्वैत वेदान्त की माध्यमिक पर श्रेष्ठता का होना स्वाभाविक है।

प्रश्नावली

लघु उत्तरीय प्रश्न–

1. बौद्ध दर्शन का शून्यवाद मत क्या है?
2. माध्यमिक दर्शन में परमार्थ तत्व क्या है? स्पष्ट करें।
3. नागार्जुन के अनुसार सत् को व्याख्यायित कीजिए।
4. क्या माध्यमिक निषेधवादी है। स्पष्ट करें।
5. शून्यता पुदगल नैरात्म एवं धर्मनैरात्म दोनों हैं स्पष्ट करें?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न–

1. शंकराचार्य द्वारा शून्यवाद की आलोचना पर एक निबन्ध लिखिए।
2. शंकराचार्य और माध्यमिक का शून्यवाद किस प्रकार से अलग है व्याख्या कीजिए।

****

इकाई–6

शंकराचार्य द्वारा जैन मत की आलोचना

संरचना

6.0 उद्देश्य

6.1. प्रस्तावना

6.3. 'एवं चात्माऽकात्स्न्र्यम्'

6.4. 'न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः'

6.5. 'अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः'

6.6. निष्कर्ष

6.0 उद्देश्य

शंकराचार्य ने अद्वैत वेदान्त की स्थापना के लिए अपने पूर्व प्रचलित भारतीय दर्शन के विभिन्न मतों के आलोचना के क्रम में जैन दर्शन के अनेकान्तवाद का निराकरण करते हैं। अद्वैत वेदान्ती शंकराचार्य का कहना है कि यद्यपि जैन ज्ञानमीमांसा और तर्क शास्त्र परमतत्व की ओर प्रेरित कर रहें हैं, किन्तु जैन दर्शन इसकी उपेक्षा कर देता है। जैन दर्शन यह भूल जाता है कि निरपेक्ष तत्व की सत्ता स्वीकार किये बिना सापेक्षवाद का भी प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। शंकराचार्य के अनुसार निरपेक्ष वह सूत्र है, जो सब सापेक्षों को स्वयं में पिरोकर उनमें एकता स्थापित करता है। सापेक्षों में जीवन, अर्थ और महत्व निरपेक्ष से ही आता है, जो उन्हें अनुप्राणित करता है और उनका अन्तर्यामी बन कर उनका नियमन करता है।

6.1. प्रस्तावना

शंकराचार्य विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों की आलोचना करने के क्रम में जैन दर्शन के सिद्धान्तों की भी आलोचना करते हैं। शंकराचार्य यह कहते हैं कि सुगत (बौद्ध दर्शन) के सिद्धान्त का निराकरण किया जा चुका है, अब जैन सिद्धान्त का निराकरण करते हैं। जैन दर्शन अद्वैत और द्वैत, अभेद और भेद, एकता और अनेकता, नित्यता और अनित्यता दोनों को सत्य मानता है तथा दोनों को समान रूप से सत्य मानता है और दोनों को एक ही स्तर का मानता है। जैन मत में सात पदार्थ हैं– जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। संक्षेप में जैन दर्शन दो प्रकार के ही द्रव्य मानते हैं– अस्तिकाय और अनस्तिकाय। 'अनस्तिकाय' द्रव्य को काल कहते हैं। अस्तिकाय द्रव्य के दो प्रकार हैं– 'जीव' और 'अजीव'। पुनः 'अजीव' के भी चार भेद हैं– धर्म, अधर्म, आकाश और पुद्‌गल। जैन दर्शन में परिकल्पित अनेक अवान्तर भेदों का वर्णन किया गया है। तत्वमीमांसा की दृष्टि से जैन दर्शन अनेकान्तवादी है तथा ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से स्यादवादी है। वस्तुतः जैन दृष्टि 'एकता' और 'अनेकता' की दृष्टि है अनेकता में एकता की दृष्टि नहीं

है। जैन दर्शन द्वैताद्वैत या भेदाभेद तक ही सीमित रह गया है यह विशिष्टाद्वैत या द्वैत विशिष्ट अद्वैत तक नहीं पहुँचा है। जैन दर्शन द्रव्य, गुण और पर्याय तीनों को ही सत्य मानता है और तीनों को एक ही स्तर पर रखता है। जैन दर्शन यह स्वीकार करता है कि पर्याय आगन्तुक धर्म है, गुण स्वरूप धर्म है और द्रव्य एक और नित्य है। तब आगन्तुक धर्म स्वरूप धर्म के समान कैसे हो सकते हैं और गुण–पर्याय को द्रव्य के बराबर कैसे माना जा सकता है? गुण–पर्याय को विशेषण का स्तर तथा द्रव्य को विशेष्य का स्तर प्रदान किये, इस विरोध से नहीं बचा सकता। सापेक्ष सत्यों को एकत्रित कर देने से वे निरपेक्ष पूर्ण सत्य में परिणत नहीं हो सकते। जब जैन दार्शनिक यह दुराग्रह करने लगते हैं कि अन्य मत आंशिक एवं अपूर्ण हैं तथा उनका मत ही पूर्ण है।– तो वे अपने सापेक्षवाद को भूलकर निरपेक्षवाद और एकान्तवाद में फँस जाते है। निरपेक्षतत्व के स्वीकृति के बिना सापेक्षवाद और अनेकान्तवाद भी सिद्ध नहीं हो सकता। परमार्थ को माने बिना व्यवहार भी सिद्ध नहीं हो सकता। जैन दर्शन अपने स्याद्वाद और अनेकान्तवाद के आधार पर किसी वस्तु के सभी पक्षों के व्याख्यान का दावा करता है, किन्तु वह भूल जाता है कि निरपेक्ष तत्व को स्वीकार किये बिना किसी वस्तु या तत्व की सिद्धि संभव नहीं है। इसीलिए शंकराचार्य जैन मत खण्डन करते हुए उसमें अनेक दोष दिखाये हैं।

1. **नैकस्मिन्नसंभवात** – इस सूत्र द्वारा शंकराचार्य यह स्पष्ट करते हैं कि सुगत सिद्धान्त का निरसन किया जा चुका है, अब जैन सिद्धान्त का निराकरण करते हैं। इनके मत में सात पदार्थ हैं– जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। संक्षेप में 'जीव' और 'अजीव' नाम के ही पदार्थ है, क्योंकि दूसरों का इन दो में ही यथायोग्य अन्तर्भाव होता है, ऐसा शंकराचार्य मानते हैं। जीवास्तिकाय, पुद्गलस्तिकाय धर्मास्तिकाय, अधमस्तिकाय और आकाशास्तिकाय, ये पाँच अस्तिकाय ('जीव' और 'अजीव') उन दो का दूसरा प्रपन्च है। आस्तिकाय और अनस्तिकाय के अहुत प्रकार के अवान्तर भेद जो प्रमाण और युक्ति से शून्य अपने शास्त्र में परिकल्पित हैं, उनका वर्णन करते हैं। जैन दर्शन में अनस्तिकाय द्रव्य को काल कहते हैं। तत्वमीमांसा की दृष्टि से जैन दर्शन अनेकान्तवादी है तथा ज्ञानमीमांसा की दृष्टि से स्याद्वादी है। जैन दर्शन सप्तभंगीनय में विश्वास करते हैं और ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से इसे सर्वत्र सप्तभंगीनय नाम से न्याय के रूप में प्रवृत्त करते हैं जो इस प्रकार है –

2. स्यादस्ति (किसी प्रकार से है)
3. स्यान्नास्ति (किसी प्रकार से नहीं है)
4. स्यादस्ति च नास्ति च (किसी प्रकार से है और नहीं है)
5. स्यात् अवक्तव्यः (किसी प्रकार से अवक्तव्य है)
6. स्यादस्ति चावक्तव्यश्च (किसी प्रकार से है और अवक्तव्य है)
7. स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च (किसी से नहीं है और अवक्तव्य है)
8. स्यादस्ति चन्नास्तिच चावक्तव्यश्च(किसी प्रकार से है और नहीं है तथा अवक्तव्य है)

जैन दार्शनिक उपर्युक्त प्रकार के सप्तभंगीनय की योजना, एकत्व नित्यत्व आदि में भी करते हैं। किन्तु शंकराचार्य का कहना है कि यह स्वीकारयोग्य नहीं है। किससे? इससे कि एक में संभव न होने से। शंकराचार्य का यह कहना है कि

एक धर्मी में एक ही समय में सत्व, असत्व और विरूद्ध धर्मों का समावेश नहीं हो सकता, शीत और उष्ण के समान। जो ये सात पदार्थ इतने और ऐसे रूप के, इस प्रकार निर्धारित हैं, वे वैसे ही प्रकार के हों या न हों, क्योंकि नहीं तो वैसे प्रकार के हों या वैसे प्रकार के न हों, ऐसा अनिर्धारित ज्ञान संशयज्ञान के समान अप्रमाण ही होगा। परन्तु वस्तु अनेकात्मक ऐसा ही निर्धारित रूप ज्ञान उपलब्ध होता है, वह संशय ज्ञान के समान अप्रमाण हो, यह युक्त नहीं है। हम कहते हैं कि नहीं, क्योंकि सब वस्तुओं में निरंकुश अनेकान्तत्व की प्रतिज्ञा करने वाले के मत में निर्धारण के भी वस्तुत्व के समान होने से 'स्यादस्ति, स्यान्नास्ति' (किसी प्रकार से है और किसी प्रकार से नहीं है) इत्यादि विकल्प की प्रवृत्ति होने से वह भी अनिर्धारणात्मक होगा। इस प्रकार निर्धारण करने वाले का और निर्धारण फल का भी पक्ष में अस्तित्व होगा और पक्ष में नास्तित्व होगा। ऐसी अवस्था में प्रमाणभूत होकर भी तीर्थकर प्रमाण, प्रमेंय, प्रमाता और प्रमिति के निर्धारित न होने पर किस प्रकार उपदेश करने में समर्थ होंगे। उनके अभिप्राय के अनुसारी शिष्य उनसे उपदिष्ट अनिर्धारित रूप से किस प्रकार प्रवृत्त होंगे, क्योंकि निश्चित फल का निर्धारण होने पर ही उसके साधन के अनुष्ठान के लिए सब लोग अनाकुल होकर प्रवृत्त होते हैं, अन्यथा नहीं। इसलिए जिसका अर्थ निर्धारित नहीं है, ऐसे शास्त्र की रचना करने वाले का वचन, मत्त और उन्मत्त के समान ग्राह्य न होगा। वैसे ही पाँच अस्तिकायों की पंचत्व संख्या है या नहीं, ऐसा विकल्प होने पर एक पक्ष में होगी और अन्य पक्ष में नहीं होंगे। इससे न्यून संख्यात्व या अधिक संख्यात्व प्राप्त होगा और ये पदार्थ अवक्तव्य हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता क्योंकि अवक्तव्य हो, तो नहीं कहे जायेंगे, परन्तु कहे जाते हैं और अवक्तव्य है, यह विरूद्ध हैं। कहे जाते हुए ये पदार्थ उसी प्रकार से अवधारित होते हैं और नहीं होते हैं। उसी प्रकार उनका अवधारण फल सम्यग्दर्शन है या नहीं है, उसी प्रकार उससे उलटा असम्यग्दर्शन भी है या नहीं, ऐसा प्रलाप करता हुआ (अर्हत्) मत्तोन्मत्त पक्ष होगा, आप्तपक्ष का नहीं होगा और किसी पक्ष में स्वर्ग तथा मोक्ष का अभाव एवं किसी पक्ष में भाव प्राप्त होगा, उसी प्रकार किसी पक्ष में नित्यता और किसी पक्ष में अनित्यता प्राप्त होगी। इस प्रकार अनिश्चित होने से उसमें प्रवृत्ति अनुपपन्न होगी। उसी प्रकार अनादि, सिद्ध, जीवादि जिनका स्वभाव अपने शास्त्र में निश्चित किया गया है, वे उस प्रकार से निश्चित स्वभाव वाले नहीं है, ऐसा मानना पड़ेगा। इस प्रकार जीवादि पदार्थों में एक धर्म में सत्व और असत्व इन विरुद्ध धर्मों का संभव न होने से सत्व रूप एक धर्म में अन्य धर्म असत्व का संभव न होने से और इसी प्रकार असत्व का सत्व में संभव न होने से भी अर्हत् मत असंगत है। इससे एक–अनेक, नित्य,–अनित्य, व्यतिरिक्त अव्यतिरिक्त आदि अनियम के स्वीकारो का निराकरण हुआ समझना चाहिए। पुद्गल संज्ञक अणुओं से संघात् उत्पन्न होता है, ऐसी जो कल्पना करते हैं, उसका तो पूर्वोक्त अणुवाद के निराकरण से ही निराकरण हो जाता है। इसलिए उसके निराकरण के लिए पृथक प्रयत्न नहीं किया जाता है।

6.3. 'एवं चात्माऽकात्स्न्र्यम्'

इस सूत्र के द्वारा शंकराचार्य यह दिखाते हैं कि जैसे एक धर्मी के विरूद्ध धर्म असंभव है, यह दोष स्याद्वाद में प्राप्त होता है, वैसे जीव का भी परिचिछन्नत्व रूप दूसरा दोष प्रसक्त होगा। किस प्रकार? इससे कि 'जीव' शरीर के बराबर है, ऐसा अर्हत् लोग मानते हैं और उसके बराबर होने का अकृत्स्न असर्वगत–परिच्छिन्न आत्मा है, अतएव घटादि के समान आत्मा भी अनित्य है, ऐसा प्रसक्त होगा और शरीरों का परिणाम निश्चित न होने के कारण मनुष्य जो मनुष्य–शरीर

के बराबर होकर पीछे किसी कर्म–विपाक से हाथी का जन्म प्राप्त करेगा, तो हाथी के समस्त शरीर में व्याप्त न होगा और चींटीं का जन्म प्राप्त करेगा, तो चींटीं के शरीर में नहीं समायेगा। एक जन्म में भी बाल्य, तारूण्य और वृद्धत्व में यह दोष समान होगा। परन्तु जीव अनन्त अवयव वाले है, उसके वही अवयव अल्प शरीर में संकुचित हो जाएँगें और बड़े शरीर में विकास पायेंगें, ऐसा यदि कहो, तो जीव उस अनन्त अवयवों के एक देशत्व का प्रतिघात होता है या नहीं होता है, यह कहना चाहिए यदि प्रतिघात होता हो, तो अनन्त अवयव परिच्छिन्न देश में नहीं समायेंगें। यदि प्रतिघात नहीं होता हो, तो भी सब अवयवों का प्रदेश एक अवयव के प्रदेश के बराबर होने से प्रथिमा आदि अनुपपन्न होंगे और जीव के अणुमात्र होने का प्रसंग आएगा और शरीर मात्र परिच्छिन्न जीव के अवयवों की अनन्तता की उत्प्रेक्षा भी नहीं की जा सकती है।

6.4. 'न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः'

इस सूत्र द्वारा शंकराचार्य जैन दर्शन के विषय में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं कि क्रमशः अवयवों के हटने और प्राप्त होने पर भी शरीर परिमाणत्व का विरोध नहीं है, क्योंकि सावयव होने से आत्मा में विकार आदि प्रसंग होंगे और ऐसी स्थिति में आत्मा विकारवान होने से उसमें अनित्यता का प्रसंग उपस्थित होगा। यदि आत्मा को अनित्य मान लिया जाएँ, तो बन्धन और मोक्ष असंभव हो जाएगा। यदि जैन मत वाले यह कहें कि वृहत् शरीर प्राप्त होने पर कुछ जीवावयव पास आ जाते हैं तथा अन्य शरीर प्राप्त होने पर कुछ जीवावयव दूर हो जाते हैं, जिस कारण जीव को कोई कठिनाई नहीं होती, तो इस पर शंकराचार्य कहते हैं कि इससे भी जैन दर्शन की समस्या का समाधान नहीं हो जाता। जीवावयवों के गमन और आगमन से जीव विकारवान हो जाएगा तथा इससे उसे अनित्यत्व की प्राप्ति होगी। यह जैन मत के मोक्ष की कल्पना के भी प्रतिकूल होगा, क्योंकि जैन मत के अनुसार जब जीव पुद्गल बन्धन से मुक्त हो जाएगा। हम यह भी नहीं कह सकते कि उनमें कोई एक अवयव आत्मा है, क्योंकि उनका निरूपण करना हमारे लिए बहुत मुश्किल है। हमें यह भी ज्ञात नहीं है कि ये जीवावयव कहाँ से प्रादुर्भूत होते हैं और किसमें विलीन हो जाते हैं। शंकराचार्य के अनुसार ये भूतों से प्रादुर्भूत होगें और भूतों में लीन होंगें, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि जीव अभौतिक है। इसी प्रकार साधारण और असाधारण जीवों के अवयवों के किसी दूसरे आधार का निरूपण नहीं किया जाता, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। दूसरी बात यह है कि ऐसी अवस्था में आत्मा अनिश्चित स्वरूप ठहरेगा और आत्मा के स्वरूप का निश्चय नहीं किया जा सकेगा क्योंकि आने और जाने वाले अवयव अनिश्चित परिणाम वाले हैं। इसलिए ऐसे दोषों के प्रसंग से आत्मा के अवयवों का क्रमशः उपगम और अपगम स्वीकार नहीं किया जा सकेगा। इस प्रकार प्रसंग द्वारा अनित्य की शंका होने पर फिर शरीर व्यक्ति भेद से परिमाण अनवस्थित होता है, तो भी जैसे स्रोत के प्रवाह का सन्तान नित्य है, वैसे आत्मा नित्य है अथवा जैसे रक्त पटों के बौद्ध आदि के विज्ञान की अनवस्थिति होने पर भी उसका सन्तान नित्य हैं वैसे ही दिगम्बर सन्तान नित्य है, ऐसी शंका कर इस सूत्र से उत्तर देते हैं। सन्तान के अवस्तु होने पर नैरात्म्य प्रसक्त होगा। वस्तु होने पर भी आत्मा के विकार आदि दोषों का प्रसंग होने से यह पक्ष अनुपपन्न है।

6.5. 'अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः'

सूत्र द्वारा शंकराचार्य जैन मत के विषय में अपने विचार प्रकट करते हुए कहते हैं कि अन्त्य अर्थात मोक्ष की अवस्था में प्राप्त होने वाला जीव परिणाम नित्य है ऐसा जैन मानते हैं। इसी प्रकार उसके पूर्व के आदि और मध्यम परिमाणों के भी नित्य होने से तीनों परिमाण बराबर हो जाएँगें। एक शरीर के बराबर आत्मा होगी, उपचित और अपचित स्थूल, सूक्ष्म, अन्त्य शरीर को प्राप्त नहीं कर सकेगी अथवा अन्य जीव परिमाण के अवस्थित होने से दो पूर्व अवस्थाओं में भी जीव अवस्थित परिमाण वाला ही होगा। इसलिए समान रीति से सर्वदा जीव को अणु और महान मानना होगा, शरीर परिमाण नहीं। इसलिए सौगत मत के समान 'अर्हत् मत' (जैन मत) भी असंगत होने से उपेक्षणी है।

6.6. निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि यदि केवल ज्ञान आत्मा के सहजरूप का आविर्भाव है, यदि यह आत्मा के अनन्तज्ञान और अनन्त आनन्द का प्रकाशन है, यदि यह आत्मसाक्षात्कार या अपरोक्षानुभूति है तो यह निश्चित रूप से निरपेक्ष तत्व है। यदि इसकी निरपेक्षता को अस्वीकार करके इसे भी सापेक्ष बना दिया, तो यह शुद्ध और अनन्त ज्ञान नहीं रहेगा। यदि सर्वज्ञता केवल ज्ञान का स्वरूप है, तो स्याद्वाद समस्त तत्वों का प्रकाशक कैसे हो सकता है? वास्तविकता यह है कि निरपेक्ष से भयभीत होकर तथा वस्तुवाद से चिपककर जैन दर्शन अपने सिद्धान्तों के अन्तर्विरोधों को भूल गया है, तथापि जैन दर्शन और जैन न्याय की अन्तःप्रेरणा निरपेक्षतत्व की ओर बारम्बार संकेत कर रही है। जैन दर्शन में सामने के द्वारा से निकाला गया निरपेक्ष तत्व (ब्रह्म) पिछले द्वार से भीतर घुस कर बैठ गया है। परोक्ष ज्ञान और अपरोक्ष ज्ञान स्यादवाद और केवल ज्ञान पर्याय और द्रव्य अभूतार्थ और भूतार्थ तथा व्यवहार और परमार्थ का भेद जैन दर्शन में प्रतिष्ठित होकर निरपेक्ष तत्व को मौन स्वीकृति दे रहा है। इस प्रकार प्रो0 राधाकृष्णन् का यह कथन उचित लगता है कि– "जैन दर्शन और न्याय निरपेक्ष विज्ञानवाद की ओर प्रेरित कर रहें है। – सापेक्षवाद निरपेक्षवाद के बिना सिद्ध नहीं होता। – जैनों का बहुत्ववाद तर्क संगत नहीं है।"

<u>प्रश्नावली</u>

लघु उत्तरीय प्रश्न :

1. जैन दर्शन के अनेकान्तवाद की व्याख्या करें।
2. जैन दर्शन का स्यादवाद क्या है?
3. ''नैकस्मिन्नसंभवात' को स्पष्ट करें।
4. ''एवं चात्माऽकात्र्स्यम' की चर्चा करें।
5. '' अन्त्यावस्थितेश्चोचयनित्यत्वादविशेषः'' को बताइए।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न :

1. शंकराचार्य द्वारा जैन दर्शन की आलोचना पर एक निबंध लिखिए।
2. शंकराचार्य के द्वारा जैन दर्शन की आलोचना में दी गयी प्रमुख युक्तियों की व्याख्या कीजिए।

****

MAPH-107
शंकराचार्य का दर्शन

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय,
प्रयागराज

खण्ड – 3

माया और मोक्ष

इकाई – 1 **95–108**

माया सिद्धान्त – अध्यास

इकाई – 2 **109–118**

शंकर के मायावाद का रामानुज द्वारा खण्डन

इकाई – 3 **119–128**

शंकर, रामानुज के वेदान्त दर्शन में मोक्ष की अवधारणा

इकाई – 4 **129–136**

क्या शंकर को प्रच्छन्न बुद्ध कहना उचित है

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश प्रयागराज

एम.ए.पी.एच.–107 (MAPH-107)

सरं क्षक मार्गदर्शक

प्रो.के.एन. सिंह – कुलपति, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

विशेषज्ञ समिति

डॉ.आर.पी.एस. यादव	–	निदेशक, मानविकी विद्याशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
प्रो. रामलाल सिंह (से.नि.)	–	दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
प्रो.दीप नारायण यादव	–	दर्शनशास्त्र विभाग, पं0 दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
प्रो. द्वारिका	–	विभागाध्यक्ष, पं0 दीन दयाल उपाध्याय विश्वविद्यालय, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर।
प्रो. सभाजीत यादव	–	दर्शनशास्त्र विभाग, महात्मागांधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी।

लेखक

डॉ. श्यामकान्त	–	असिस्टेंट प्रोफेसर, आर्यकन्या डिग्री कालेज, इला0 वि.वि. प्रयागराज।
डॉ. अतुल कुमार मिश्र	–	शैक्षिक परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

सम्पादक

प्रो. जटाशंकर	–	पूर्व विभागाध्यक्ष, दर्शनशास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

परिमापक

प्रो. आर.पी.एस. यादव	–	निदेशक मानविकी विद्याशाखा, उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

समन्वयक

डॉ. अतुल कुमार मिश्र	–	शैक्षिक परामर्शदाता (दर्शनशास्त्र) उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज।

2023 (मुद्रित)

© उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज–211021

ISBN-

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस सामग्री के किसी भी अंश को राजर्षि अण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में, मिमियोग्राफी (वक्रमुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

नोट : पाठय सामग्री में मुद्रित सामग्री के विचारों एवं आकड़ों आदि के प्रति विश्वविद्यालय, उत्तरदायी नहीं है।

प्रकाशन – उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज– 211021

प्रकाशक – कुलसचिव, विनय कुमार, उ0प्र0 राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज –2023

मुद्रक – के0 सी0 प्रिटिंग एण्ड एलाइड वर्क्स , पंचवटी, मथुरा – 281003.

इकाई–1

माया सिद्धान्त–अध्यास

संरचना

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 मायावाद के मूल स्रोत

1.3 माया की स्थापना

1.4 माया और अविद्या

1.5 शंकर के परवर्ती वेदान्तियों के अनुसार 'माया' और 'अविद्या'

1.6 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में मायावाद की प्रमुख विशेषताएँ

1.6.1. माया परमेंश्वर की परा शक्ति है

1.6.2. 'माया' और ब्रह्म के बीच तादात्म्य सम्बन्ध पाया जाता है

1.6.3. शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में 'माया' अनादि है

1.6.4. शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में 'माया' अव्यक्त है

1.6.5. माया का आश्रय और विषय ब्रह्म है

1.6.6. माया भावरूप है

1.6.7. माया को विवर्त कहा गया है

1.6.8. माया भौतिक और जड़ है

1.6.9. शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में माया अनिर्वचनीय है

1.6.10. शंकराचार्य के अनुसार 'माया' में दो शक्तियाँ हैं

1.6.11. माया त्रिगुणात्मक है

1.6.12 माया नामरूपात्मक है

1.6.13. माया ब्रह्म की बीज शक्ति है

1.6.14. माया मिथ्या है

1.6.15. माया अध्यास रूप है

1.7. 'माया' के सम्बन्ध शंकर के अतिरिक्त अन्य वेदान्तियों का विचार

1.7.1. स्वामी विद्यारण्य का 'माया' सम्बन्धी विचार

1.7.2. मण्डन मिश्र के अनुसार माया का स्वरूप

1.7.3. वाचस्पति मिश्र के अनुसार माया का स्वरूप

1.8. माया और अध्यास

1.8.1. अध्यास का स्वरूप और अर्थ

1.8.2. अध्यास के भेद

1.8.3. अध्यास की मूल विशेषताएँ

1.9. शंकराचार्य के मायावाद के विरुद्ध शंकाएँ

1.9.1. माया क्या है?

1.9.2 ब्रहम ही माया का आश्रम

1.9.3. माया जनित जगत

1.9.4. जगत माया जन्म है?

1.10. निष्कर्ष

2.0 उद्देश्य

अद्वैत वेदान्त में 'माया' को ब्रह्म की शक्ति के रूप माना गया है। मायारूपी इसी शक्ति से ब्रह्म नानारूपात्मक जगत की रचना करता है। शंकराचार्य के अद्वैतवेदान्त में तो 'माया' ही वह शक्ति है, जिसके कारण निर्गुण, निर्विकार एवं निर्विशेष ब्रह्म के स्थान पर नाना रूपात्मक प्रपंचात्मक जगत् एवं जीव की प्रतीति होती है। इसलिए प्रस्तुत इकाई में माया के मूल स्रोत, मायावाद की स्थापना माया की सामान्य विशेषता, माया और अविद्या, माया के सम्बन्धित भ्रान्तियों का निराकरण एवं माया–अध्यास से सम्बन्धित विषयों को उद्घाटित करने का प्रयास किया गया है।

1.1 प्रस्तावना

शंकराचार्य ब्रह्मसूत्रभाष्य का प्रारम्भ करने के पहले अध्यासभाष्य प्रस्तुत करते हैं। इस अध्यासभाष्य में शंकराचार्य अध्यास या भ्रम के स्वरूप को विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करते हैं। उनका यह दृढ़ विश्वास है कि जब तक हम भ्रम के स्वरूप को अच्छी तरह नहीं समझ लेते है, तब तक तत्व के स्वरूप को अच्छी तरह से आत्मसात् नहीं कर सकते। इसी क्रम शंकराचार्य बन्धन को असत् या मिथ्या कहते हैं, क्योंकि यदि बन्धन को सत् मान लिया जाएँ, तो ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद भी इसका निरसन नहीं किया जा सकता। इसीलिए आगे चलकर विवरण प्रमेंय संग्रह में शंकराचार्य एक अन्य बात की ओर संकेत करते हैं कि बन्धन सत् है अथवा असत् है, इस विषय में श्रुति बिल्कुल तटस्थ है। विभिन्न श्रुतियों को तर्कसंगत बनाने के लिए ही हम कल्पना कर लेते हैं कि बन्धन अविद्यारूप है। इसीलिए माया और अविद्या के सम्बन्ध को लेकर अद्वैत वेदान्तियों में विभिन्न प्रकार के विचार पाये जाते हैं। यद्यपि वेदान्त दर्शन में इस विषय पर पर्याप्त विवाद है कि मायावाद शंकराचार्य का कोई मौलिक सिद्धान्त है या इसे उन्होंने वेदों और उपनिषदों से ग्रहण किया है। शंकराचार्य के मायावाद को चाहे उनकी मौलिक उदभावना माना जाएँ या न माना जाएँ, किन्तु इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता कि शंकराचार्य वह प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने अपनी प्रतिभा

से एक सर्कसम्मत सिद्धान्त के रूप में मायावाद की स्थापना किया है। शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में मायावादी की अवधारणा ब्रह्म एवं नाना विषयात्मक प्रपंचात्मक मिथ्या जगत के बीच समन्वय स्थापित करने वाली कड़ी है। शंकराचार्य ब्रह्म को ही एकमात्र सत्य मानते हैं और जगत को मिथ्या मानते हैं। यदि ब्रह्म सत्य है, तो उसके द्वारा रचित यह संसार मिथ्या कैसे है? इसके अतिरिक्त ब्रह्म निर्गुण, निराकार एवं निर्विशेष है, ऐसी स्थिति में विकारयुक्त जगत् का वह स्रष्टा कैसे हो सकता है? श्रुतियों में यह भी कहा गया है ब्रह्मज्ञान हो जाने पर नानात्व दूर हो जाता है। यदि सृष्टि ब्रह्म की वास्तविक रचना है तो सृष्टि भी उतनी ही सत्य होनी चाहिए, जितना कि ब्रह्म है। ब्रह्मज्ञान होने पर केवल मिथ्याज्ञान (सत् में असत की प्रतीति) नष्ट हो सकती है, जो सत् है, वह कैसे नष्ट होगा। ऐसे ही ब्रह्म एवं प्रपंचात्मक जगत् से सम्बन्धित अनेक प्रश्न हैं, जिसका समाधान शंकराचार्य अपने मायावाद सिद्धान्त की स्थापना द्वारा देते हैं।

1.2 मायावाद के मूल स्रोत

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में जिस मायावाद का वर्णन मिलता है उसका मूल बीज वेदों, उपनिषदों एवं भगवदगीता में मिलता है, किन्तु वहाँ इसका वर्णन केवल एक रहस्यात्मिका शक्ति के रूप में हुआ है। शंकराचार्य को 'माया' शब्द से सम्बन्धित विभिन्न प्रयोगों को एक सूत्र में ग्रथित कर एक प्रमाणिक सिद्धान्त के रूप में स्थापित करने का श्रेय दिया जाता है। वास्तविकता यह है अद्वैत वेदान्त से पूर्व मायावाद से सम्बन्धित बीज वेदों उपनिषदों एवं भगवदगीता में मिलते हैं, किन्तु शंकराचार्य ने उस 'मायावाद' को ब्रह्म की अवधारणा से सामन्जस्य स्थापित करने के लिए किया है। शंकराचार्य से पूर्व जो माया से सम्बन्धित वर्णन मिलता है, वह इस प्रकार है–

1.2.1 ऋग्वेद में 'माया' का वर्णन करते हुए यह कहा गया है कि 'इन्द्रो मायाभिः पुरूरूप

ईयते' अर्थात इन्द्र माया के प्रभाव से नाना रूपों में प्रकट होते हैं। स्पष्ट है कि यहाँ माया को एक शक्ति के रूप में बताया गया है।

1.2.2 उपनिषदों में 'माया' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'माया' को यहाँ सृष्टि के रूप में प्रयोग किया गया है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है कि–अस्मान्मायी सृजते विश्वमेंतत्तस्मिंश्यान्यो मायया संनिरूद्धः' अर्थात ईश्वर (मायी) माया के द्वारा ही सृष्टि को उत्पन्न करता है तथा माया के कारण ही जीव बन्धन में ग्रस्त होते है। पुनः श्वेताश्वतर उपनिषद् में यह भी कहा गया है कि–माया तु प्रकृतिं मायिनं तु महेश्वरम' अर्थात् माया को प्रकृति समझना चाहिए और माया के अधिष्ठाता ब्रह्म को मायावी समझना चाहिए। बृहदारण्यक उपनिषद् में यह कहा गया है कि वह परमात्मा एक होते हुए भी माया के कारण अनेक रूपों में प्रतिभासित होता है। प्रश्नोपनिषद् में यह कहा गया है– 'तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोके न येषु जिह्ममनृतं न माया' अर्थात् वही ब्रह्म लोक को प्राप्त कर सकते हैं, जो वंचना, अनृत और माया से मुक्त हों।

1.2.3 श्रीमद् भगवद्गीता में भी 'माया' शब्द प्रयोग हुआ है। भगवद्गीता में यह कहा गया है कि–

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि।

प्रकृति स्वामाधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया।।

अर्थात् में अजन्मा एवं अविनाशी रूप होते हुए भी तथा समस्त प्राणियों का ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृति को अधीन करके अपनी योगमाया से प्रकट होता हूँ। भगवद्गीता में 'माया' के सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि–

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।

मामेंव ये प्रपद्यन्ते मायामेंतां तरन्ति में।।

अर्थात् यह अलौकिक त्रिगुणात्मक मेंरी माया बड़ी दुस्तर है। जो पुरूष निरन्तर मुझको ही भजते हैं, वे इस माया का उल्लंघन कर जाते हैं।

1.2.4 भगवत में माया के विषय में यह कहा गया है कि–

'ऐषां माया भगवतः सर्गस्थित्यन्तकारिणी' अर्थात माया विश्व की सृष्टि, स्थिति एवं संहार करने वाली शक्ति है।

1.2.5 गौडपाद ने 'माण्डूक्यकारिका' में 'माया' शब्द का प्रयोग रचनात्मक शक्ति के रूप में किया गया है। गौडपाद का यह स्पष्ट अभिमत है कि माया के कारण ही द्वैत का आभास होता है। माया के कारण ही जीव जगत् को सत् मानने लगता है और परमतत्व को भूल जाता है।

1.2.6 शंकराचार्य के माया सम्बन्धी अवधारणा में पृष्ठभूमि के रूप में वेद, उपनिषद्, श्रीमद्–भगवद्गीता एवं गौडपाद के दृष्टिकोण का स्पष्ट प्रभाव दिखायी पड़ता है। शंकराचार्य ने 'माया' शब्द का प्रयोग सृष्टि रचना शक्ति के रूप में किया है। अपने ग्रन्थ 'विवेकचूड़ामणि' में शंकर ने माया के स्वरूप और माया के प्रमुख विशेषताओं का वर्णन करते हुए कहा है कि–

अत्यक्तनाम्नीपरमेंशशक्तिरनाद्यविद्यात्रिगुणात्मिका परा।

कार्यानुमेंया सुधियैव माया यया जगत सर्वमिदं प्रसूयते।।

सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्य भिन्नाप्युभयात्मिका नो।

सांगाप्यनंगाप्युभयात्मिका नो महाद्भुतानिर्वचनीय रूपा।।

शुद्धाद्वय ब्रह्मविबोधनाश्या सर्पभ्रमोरज्जुविवेकतो यथा।

रजस्मः सत्वमिति प्रसिद्धः गुणास्तदीयाः ग्रथितैस्वकार्यै।।

अर्थात् "अव्यक्त नाम वाली त्रिगुणात्मिका अनादि, अविद्या परमेंश्वर की परा शक्ति है, वही माया है जिससे यह सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न होता है। बुद्धिमान लोग इसके कार्य से इसका अनुमान करते हैं।" शंकराचार्य का यह भी कहना है कि वह माया न सत् है न असत् है और न सदसत् है, न भिन्न है, न अभिन्न है और न भिन्नाभिन्न है न अंगसहित है और अंगरहित है और न ही सांगानंग ही है, किन्तु अत्यन्त अद्भुत एवं अनिर्वचनीय रूपा है।

शंकराचार्य उपर्युक्त श्लोक द्वारा यह भी स्पष्ट करते हैं कि माया से कैसे छुटकारा मिल सकता है, इसके विषय में कहा गया है कि रज्जु के ज्ञान से सर्प

भ्रम के समान वह अद्वितीय शुद्ध ब्रह्म के ज्ञान से नष्ट होने वाली है। अपने–अपने प्रसिद्ध कार्यों के कारण सत्व, रज और तम उसके तीन प्रसिद्ध गुण हैं।

1.3 माया की स्थापना

शंकराचार्य ब्रह्म को ही एकमात्र सत् मानते हैं। यदि ब्रह्म ही एक मात्र सत् है, तो माया के लिए यहाँ किस प्रकार का अवकाश हो सकता है? प्रायः शंकराचार्य के माया के सम्बन्ध में यह भी प्रश्न उठाया जाता है कि क्या 'माया' का अस्तित्व स्वीकार करने से शंकर का दर्शन द्वैतवादी नहीं हो जाता है? इसके अतिरिक्त शंकराचार्य द्वारा 'माया' की अवधारणा को स्वीकार करने के पीछे तर्क क्या है? इन विभिन्न प्रश्नों का शंकराचार्य ने अपने अद्वैत वेदान्त में समाधान करने का प्रयास किया है। शंकराचार्य का कहना है कि कल्पना किया कि 'क' और 'ख' दो वस्तुएँ हैं, जिनके बीच हम सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं। यहाँ तीन प्रकार के विकल्प उपस्थित होते हैं– या दोनों वस्तुएँ एक दूसरे से स्वतंत्र हैं, या एक दूसरे पर आश्रित हैं या उनमें से एक स्वतंत्र तथा दूसरी पहली वस्तु पर पूर्णतया आश्रित है।

(i) यदि यह माना जाय कि दोनों वस्तुएँ 'क' और 'ख' एक दूसरे से पूर्णतया स्वतंत्र हैं, तो उनके बीच किसी प्रकार के सम्बन्ध की कल्पना ही नहीं की जा सकती है।

(ii) यदि यह माना जाय कि 'क' और 'ख' एक दूसरे पर आश्रित हैं, तो 'क' और 'ख' के बीच भेद करना हमारे लिए कठिन हो जाएगा। ऐसी स्थिति में हम उनके बीच किसी सम्बन्ध की कल्पना भी नहीं कर सकते है।

(iii) तीसरी अवस्था यह माना जा सकता है कि 'क' तो बिल्कुल स्वतंत्र है, किन्तु 'ख', 'क' के ऊपर पूर्णतया आश्रित है। यही एक अवस्था है जिसमें 'क' और 'ख' के बीच किसी सम्बन्ध की कल्पना की जा सकती है। शंकर के दर्शन में यही 'क' ब्रह्म है और 'ख' माया है। 'ख', 'क' के ऊपर पूर्ण रूप से आश्रित होने के कारण 'क' की स्वतंत्रता में किसी प्रकार का व्यवधान नहीं होता। शंकराचार्य द्वारा यही 'ब्रह्म' और 'माया' में विश्वास करने का तर्क है।

शंकराचार्य के 'ब्रह्म' एवं 'माया' की अवधारणा के सम्बन्ध में यह प्रश्न भी उठाया जाता है कि यदि ब्रह्म पूर्ण रूप से स्वतंत्र है तथा माया उसके ऊपर पूर्ण रूप से आश्रित है, तो उनके बीच कैसा सम्बन्ध हो सकता है। इस प्रश्न के उत्तर में शंकराचार्य कहते हैं कि 'माया' ईश्वर की बीज शक्ति है, जिसके द्वारा वह जगत् की सृष्टि करते हैं। परमेंश्वर की यह बीजशक्ति अविद्यात्मक अव्यक्त शब्द से निर्दिष्ट की गयी है। इसे महासुप्ति भी कहते हैं, क्योंकि संसारी 'जीव' अपने यथार्थस्वरूप को भूलकर इसकी प्रगाढ़निद्रा में सोए रहते हैं। यहाँ विशेष से उल्लेखनीय यह है कि यद्यपि 'जीव' ब्रह्म की माया से ग्रस्त है, किन्तु ब्रह्म स्वयं अपनी 'माया' से प्रभावित नहीं होता। जिस प्रकार कोई जादूगर अपनी माया से दर्शकों को तो प्रभावित करता है, किन्तु वह स्वयं अपनी माया से प्रभावित नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्म या ईश्वर अपनी 'माया' से जीवों को तो प्रभावित कर देता है किन्तु वह स्वयं अपनी माया से तनिक भी प्रभावित नहीं होता।

1.4 माया और अविद्या

1.4.1. शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में 'माया' और 'अविद्या' शब्द का प्रयोग समानार्थक रूप में हुआ है, किन्तु परवर्ती अद्वैत वेदान्तियों ने इनके बीच भेद करने की चेष्टा की है। शंकर ने 'माया' और 'अविद्या' को समान मानते हुए इसकी दो प्रकार की शक्तियों का वर्णन किया है – प्रथम, आवरण शक्ति, जिसके द्वारा 'माया' ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप को आच्छादि कर देती है, द्वितीय, विक्षेप शक्ति, जिसके द्वारा 'माया' अद्वैत ब्रह्म के स्थान पर नाना रूपतामक जगत् को उत्थापित करते हैं। 'विक्षेप शक्ति' के पूर्व 'आवरण शक्ति' का होना आवश्यक है, क्योंकि बिना आवरण के विक्षेप संभव ही नहीं है। शंकराचार्य के परवर्ती अद्वैत वेदान्ती 'माया' को ब्रह्म की भावात्मक शक्ति के रूप में मानते हैं तथा अविद्या को अभावात्मक शक्ति के रूप मानते है।

1.4.2. 'माया' और 'अविद्या' में दूसरा अन्तर यह है कि 'माया ईश्वर की उपाधि है, किन्तु अविद्या 'जीव' की उपाधि है। मायोपाधिक ईश्वर है और अविद्योपाधिक जीव है।

1.4.3. 'माया' और 'अविद्या' में तीसरा अन्तर यह है कि माया सत्व गुण की प्रधानता है, पर अविद्या में तमोगुण की प्रधानता है। माया एवं अविद्या से सम्बन्धित उपर्युक्त दृष्टिकोणों से यह स्पष्ट होता है कि माया और अविद्या के सम्बन्ध में शंकराचार्य और उनके परवर्ती अद्वैत वेदान्तियों में किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है। वास्तविकता यह है कि चाहे 'माया' और 'अविद्या' को एक मानकर उसकी दो शक्तियों – 'आवरण' एवं 'विक्षेप' को मानें अथवा 'माया' को भावात्मक एवं 'अविद्या' को अभावात्मक मानें किन्तु अन्ततः दोनों में कोई अन्तर जान नहीं पड़ता।

1.5 शंकर के परवर्ती वेदान्तियों के अनुसार 'माया' और 'अविद्या'

शंकर के समय भले ही 'माया' और 'अविद्या' शब्द समानार्थक रूप में प्रयुक्त हुए हैं, किन्तु शंकरोत्तर काल में 'माया' और 'अविद्या' में अवश्य भेद किया गया था। महादेवानन्द सरस्वती ने अज्ञान को भाव रूप माना जिसके अन्दर सत्व, रज और 'तम' तीनों गुण पाये जाते हैं। यह अनिर्वचनीय है। उन्होंने अज्ञान को दो भागों में विभाजित किया है – प्रथम 'माया', द्वितीय 'अविद्या'। उनके अनुसार 'माया' विशुद्ध सत्व रूप है, जो जीव की उपाधि है। अज्ञान के भीतर ज्ञान–शक्ति और क्रियाशील दोनों पायी जाती है। रजस और तमस से अप्रभावित 'सत्व ज्ञान शक्ति को उत्पन्न करता है तथा सत्व से अप्रभावित रजस और तमस क्रियाशक्ति को उत्पन्न करता है। यह क्रिया–शक्ति दो प्रकार की होती है– प्रथम आवरण शक्ति और द्वितीय विक्षेप शक्ति। सत्व एवं रजस से अप्रभावित तमस आवरण शक्ति को उत्पन्न करता है तथा सत्व एवं तमस से अप्रभावित रजस विक्षेप शक्ति को उत्पन्न करता है। 'माया' के अन्दर विक्षेप शक्ति की प्रधानता होती है तथा अविद्या के भीतर आवरण शक्ति की प्रधानता होती है। एक ही अज्ञान विक्षेप शक्ति की प्रधानता के कारण 'माया' तथा आवरण शक्ति की प्रधानता के कारण 'अविद्या' कहा जाता है।

सदानन्द का विचार भी महादेवानन्द सरस्वती के दृष्टिकोण का ही पोषण करता हुआ दिखायी पड़ता है। सदानन्द भी अज्ञान को दो भागों में विभाजित करते

है– समष्टि अज्ञान और व्यष्टि अज्ञान। समष्टि अज्ञान, जिसके भीतर विशुद्ध सत्व की प्रधानता है– वह ईश्वर की उपाधि है और इसे 'माया' कहते हैं। 'व्यष्टि–अज्ञान' जिसके भीतर अशुद्ध सत्व की प्रधानता है, वह 'जीव' की उपाधि है और इसे 'अविद्या' कहते है।

प्रकाशात्मन ने 'पंचपादिकाविवरण' में लिखा है कि माया के भीतर विक्षेप–शक्ति की प्रधानता है, जो दृश्य प्रपंच को उत्पन्न करती है और अविद्या के भीतर 'आवरण' शक्ति की प्रधानता है, जो ब्रह्म या तत्व के स्वरूप का आवरण करती है।

वाचस्पति मिश्र ने 'भामती' में 'अज्ञान' के स्थान पर 'अविद्या' शब्द का प्रयोग किया है। वे 'अविद्या' को दो भागों में विभाजित करते हैं– प्रथम मूला–अविद्या एवं द्वितीय तूला– अविद्या। मूला–अविद्या जगत् का कारण है और वह ईश्वर की उपाधि है। इसके विपरीत तूला–अविद्या ब्रह्म के स्वरूप का आवरण करती है और वह 'जीव' की उपाधि है। अविद्या का आश्रय 'जीव' है, पर विषय ब्रह्म है, पर माया का आश्रय और विषय दोनों ही ब्रह्म है।

1.6 शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में मायावाद की प्रमुख विशेषताएँ

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में 'माया' ब्रह्म की वह शक्ति है, जिसके द्वारा ब्रह्म नाना रूपात्मक प्रपंच जगत् को उत्पन्न करता है। शंकराचार्य ने 'विवेकचूड़ामणि' में 'माया' की अनेक विशेषताओं का उल्लेख किया है जो इस प्रकार है–

1.6.1. माया परमेंश्वर की परा शक्ति है

शंकराचार्य ने माया को परमेंश्वर की वह शक्ति बताया है, जिसके माध्यम से परमेंश्वर नाना रूपात्मक जगत् की सृष्टि करता है। शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में निरपेक्ष रूप से सत् ब्रह्म है, किन्तु वह 'माया' से उपहित होने के कारण सापेक्ष एवं सगुण होकर सृष्टि की रचना करता है।

1.6.2. 'माया' और ब्रह्म के बीच तादात्म्य सम्बन्ध पाया जाता है

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में 'माया' शक्ति ईश्वर में ही अन्तर्निहित है, ईश्वर से पृथक उसकी कोई सत्ता नहीं है। 'माया' ब्रह्म के ऊपर पूर्ण रूप से आश्रित है, पर ब्रह्म 'माया' पर आश्रित न होकर उससे अपने को पूर्णतया स्वतंत्र रखता है। इसीलिए इसे एक पक्षीय आश्रित्व (One-Sided-Dependence) की संज्ञा दी जा सकती है।

1.6.3. शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में 'माया' अनादि है

शंकराचार्य ने अपने अद्वैत वेदान्त में 'माया' को अनादि कहा है। 'माया' को अनादि कहने का उनका तात्पर्य यह है कि 'माया' कब से जीवों को ग्रस्त किया है, इसके विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। जिस प्रकार सुषुप्तावस्था में हम यह नहीं कह सकते कि हम कब से सो रहे हैं, उसी प्रकार जीव कब से माया से आक्रान्त है, इसके विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। माया अनादि होते हुए भी सान्त है, क्योंकि इसका ब्रह्मज्ञान द्वारा अन्त किया जा सकता है।

1.6.4. शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में 'माया' अव्यक्त है

शंकराचार्य ने 'माया' को अव्यक्त कहा है। उन्होंने माया को अव्यक्त रूप इसलिए कहा है, क्योंकि प्रलय की अवस्था में केवल ब्रह्म की सत्ता रहती है 'माया' शक्ति रूप में ब्रह्म में अव्यक्त रूप में रहती है। 'माया' के अव्यक्त अवस्था का यह तात्पर्य है कि वह व्यक्त होकर जगत् के रूप में प्रकट हो सकती है।

1.6.5. माया का आश्रय और विषय ब्रह्म है

शंकराचार्य के अनुसार माया का आश्रय एवं विषय ब्रह्म है, किन्तु ब्रह्म 'माया' से किसी भी प्रकार प्रभावित नहीं होता। ब्रह्म अपनी माया शक्ति से उसी प्रकार प्रभावित नहीं होता जिस प्रकार जादूगर अपने जादू से स्वयं प्रभावित नहीं होता।

1.6.6. माया भावरूप है

शंकराचार्य ने माया को भावरूप माना है। उनके द्वारा 'माया' को भावरूप कहने का तात्पर्य यह है कि 'माया' के कारण ही जगत् की उत्पत्ति संभव होती है। परन्तु माया भावरूप होते हुए भी सत् नहीं है, क्योंकि ब्रह्म ही एकमात्र सत् है। माया को भावरूप कहने का आशय केवल यह है कि वह बन्ध्यापुत्र के समान पूर्ण अभावरूप नहीं है।

1.6.7. माया को विवर्त कहा गया है

शंकराचार्य ने केवल ब्रह्म को ही सत् माना है। ब्रह्म ही प्रपंचात्मक जगत् का मूल कारण है, किन्तु जगत् ब्रह्म का रूपान्तरण न होकर केवल ब्रह्म का आभास मात्र है। अतएव 'माया' की केवल प्रतिभासिक सत्ता है जिसके कारण 'माया' को ब्रह्म का विवर्त कहा गया है। माया के कारण ही ब्रह्म जगत् के रूप में प्रतिभासित होता है।

1.6.8. माया भौतिक और जड़ है

शंकर के अद्वैत वेदान्त में 'माया' सांख्य की 'प्रकृति' के समान अचेतन है, किन्तु माया की अपनी स्वतंत्र सत्ता नहीं है।

1.6.9. शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में माया अनिर्वचनीय है

शंकराचार्य के अनुसार माया सदसद निर्वचनीया है माया सत् नहीं है, क्योंकि इसका कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, वह असत् भी नहीं है, क्योंकि वह जगत् को प्रक्षेपित करती है। चूँकि यह न तो सत् है और न ही असत् है, इसीकारण इसे सदसदनिर्वचनीय कहा गया है।

1.6.10. शंकराचार्य के अनुसार 'माया' में दो शक्तियाँ हैं

प्रथम– आवरण–शक्ति एवं द्वितीय– विक्षेप–शक्ति, अपनी आवरण शक्ति द्वारा माया ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का आच्छादन करती है और विक्षेप शक्ति द्वारा अद्वय ब्रह्म के स्थान पर नाना रूपतामक जगत् को प्रक्षेपित करती है। इसलिए 'माया' अख्यातिरूप न होकर विपरीतख्यातिरूप भी है।

1.6.11. माया त्रिगुणात्मक है

शंकराचार्य के अनुसार 'माया' त्रिगुणात्मक है अर्थात माया में सत्व, रजस एवं तमस तीन गुण होते हैं। शंकराचार्य गीताभाष्य के उपोद्धात में कहते हैं कि 'माया' ईश्वर की त्रिगुणात्मिका शक्ति है। ईश्वर अपनी त्रिगुणात्मिका मूल प्रकृति वैष्णवी माया को वश में करके अपनी लीला से शरीरधारी की तरह उत्पन्न हुए से और लोगों पर अनुग्रह करते हुए से दिखते है।

1.6.12 माया नामरूपात्मक है

शंकराचार्य के अनुसार 'माया' नामरूपतामक होकर नानात्व का विस्तार करती है। शंकराचार्य के कहने का तात्पर्य यह है कि 'माया' के कारण ही जगत् की विभिन्न वस्तुओं के नाम–रूप संभव है।

1.6.13. माया ब्रह्म की बीज शक्ति है

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में 'माया' को बीजशक्ति इसलिए कहा जाता है क्योंकि इसी शक्ति के कारण निर्गुण निष्क्रिय ब्रह्म सक्रिय होकर सृष्टि की रचना करता है। माया से संयुक्त होकर निर्गुण ब्रह्म सगुण ईश्वर के रूप सृष्टि कार्य को करता है।

1.6.14. माया मिथ्या है

शंकराचार्य अपने अद्वैत वेदान्त में 'माया' को मिथ्या कहा है, क्योंकि वह विज्ञाननिरस्या है। ज्योंही हमें ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त हो जाता है माया का निरसन हो जाता है और वह अदृश्य हो जाती है।

1.6.15. माया अध्यास रूप है

शंकराचार्य ने 'माया' को अध्यास रूप कहा है। अध्यास का अर्थ है– मिथ्याज्ञान या अन्यथा ज्ञान। शंकराचार्य का कहना है कि अध्यास के द्वारा हमें एक वस्तु में दूसरी वस्तु का आभास होता है। माया के कारण ही ब्रह्म में जगत् उसी प्रकार अध्यस्त होते है, जैसे रस्सी में सर्प अध्यस्त होता है।

1.7. 'माया' के सम्बन्ध शंकर के अतिरिक्त अन्य वेदान्तियों का विचार

1.7.1. स्वामी विद्यारण्य का 'माया' सम्बन्धी विचार

स्वामी विद्यारण्य ने 'माया' के त्रिविध रूप को प्रतिपादित किया है

(i) श्रुति प्रमाण से माया तुच्छ है अर्थात् वह अत्यन्त असत् है, जिस प्रकार आकाशकुसुम नितान्त असत् होता है।

(ii) युक्ति के आधार पर 'माया' अनिर्वचनीय है अर्थात् वह सदसद्विलक्षण है।

(iii) प्रत्यक्ष–प्रमाण से 'माया' वास्तविक है, क्योंकि रूपात्मक जगत् का प्रत्यक्ष कराती है।

1.7.2. मण्डन मिश्र के अनुसार माया का स्वरूप

मण्डन मिश्र के अनुसार 'माया' मिथ्याभास है क्योंकि यह न तो ब्रह्म का स्वभाव है और न ब्रह्म से पृथक् ही है। माया का आश्रय ब्रह्म नहीं हो सकता, क्योंकि ब्रह्म विशुद्ध चैतन्य है, जीव भी माया या अविद्या का आश्रय नहीं हो सकता, क्योंकि 'जीव' स्वयं माया का परिणाम है। अतएव अविद्या का आश्रय न तो ब्रह्म है और न ही जीव ही है। परन्तु इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि अविद्या अनिर्वचनीय है। अनुपपद्यमान होने के कारण ही इसे 'माया' कहा जाता है। यहाँ एक दूसरी बात की ओर भी मण्डन मिश्र ने संकेत किया है और वह यह है कि यदि 'जीव' को अविद्या का आश्रय माना जाय, तो इसमें कोई हानि नहीं है, क्योंकि अविद्या जीव पर आश्रित है और जीव अविद्या पर आश्रित है। बीज और वृक्ष के चक्र के समान अविद्या और जीव का भी चक्र अनादि काल से चला आ रहा है।

1.7.3. वाचस्पति मिश्र के अनुसार माया का स्वरूप

वाचस्पति मिश्र के अनुसार जीव ही अविद्या का आश्रय है। अविद्या दो प्रकार की है– प्रथम– मनोवैज्ञानिक अविद्या है जो पूर्वापूर्व भ्रम संस्कार रूप है तथा द्वितीय भौतिक अविद्या जो जीव और जगत् का उपादान कारण है। इस समस्या के समाधान के लिए कि पहले जीव आता है कि अविद्या, वाचस्पति मिश्र कहते है कि मनोवैज्ञानिक भ्रम का आश्रय जीव है और यह जीव स्वभाव एक पूर्व मिथ्या भ्रम के कारण उत्पन्न हुआ है तथा यह मिथ्या भ्रम किसी दूसरे मिथ्या भ्रम के कारण तथा यह दूसरा मिथ्या भ्रम किसी पूर्व तीसरे मिथ्या भ्रम के कारण उत्पन्न हुआ है और यह क्रम अनन्त तक चलता रहेगा।

1.8. माया और अध्यास

शंकराचार्य के दर्शन में अध्यास की बड़ी ही महत्वपूर्ण भूमिका है। इसके महत्व का पता इससे चलता है कि ब्रह्मसूत्रभाष्य के प्रारम्भ में ही शंकराचार्य 'अध्यास' को निरूपण करते हैं। शंकराचार्य के अद्वैत–वेदान्त में अध्यास माया, भ्रम, अविद्या, भ्रान्ति आदि शब्दों का प्रयोग पर्यायवाची के रूप में हुआ है। अध्यास या माया का शंकराचार्य के दर्शन में इसलिए विशेष महत्व है क्योंकि इससे शंकर जगत् के नानात्व की व्याख्या करते हैं। वे इसके द्वारा यह स्पष्ट करते हैं कि अद्वैत सत्ता के होते हुए यह नाना रूपात्मक जगत् कैसे है? शंकराचार्य ने अपने अद्वैत वेदान्त में आत्म एवं अनात्म के अद्वैत की प्रतीति को अध्यास के द्वारा ही स्पष्ट किया है और शंकराचार्य के परवर्ती अद्वैत वेदान्तियों ने भी उनके ही मत का समर्थन किया है। वास्तविकता यह है कि अध्यास के बिना लोक व्यवहार ही बिल्कुल असंभव हो जाएगा।

1.8.1. अध्यास का स्वरूप और अर्थ

अध्यास का अर्थ है– एक वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु की प्रतीति ही अध्यास है। शंकराचार्य ने अध्यास की परिभाषा देते हुए कहा है कि– 'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः' अर्थात् दूसरे स्थान पर पहले देखी हुई वस्तु का स्मृतिरूप अवभास अध्यास है। उदाहरण के लिए रज्जु–सर्प ज्ञान में 'रज्जु' 'परत्र' वस्तु है, जिसमें पहले देखी हुई वस्तु 'सर्प' का वहाँ स्मृति रूप में अवभास है। भामती में वाचस्पति मिश्र अवभास को परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि –'अवसन्नोऽवमतो व भासोऽवभासः' अर्थात अवसन (अवसादयुक्त) या अवमत (तिरस्कृत) आभास अवभास कहा जाता है। साधारण बोल–चाल की भाषा में भी हम अवभास का प्रयोग करते

हैं, उससे हमारा यही आशय होता है कि अवभासित वस्तु मिथ्या है। वस्तु कुछ और पर वह अन्य रूप में भासित हो रही है। इसीलिए अध्यास का सामान्य लक्षण देते हुए यह का गया है कि–'मिथ्याज्ञानमध्यासः' अर्थात् मिथ्या ज्ञान को ही अध्यास कहते हैं। अध्यास का मिथ्यात्व इस बात से भी प्रकट होता है कि 'प्रत्ययान्तर बाधश्च अवसादोऽवमानो वा' अर्थात् वह उत्तर काल में प्रत्ययान्तर से बाध हो जाता है। शंकराचार्य ने अध्यास की एक और परिभाषा दी है– 'अध्यासो नाम अतस्मिन्न तद्बुद्धिः' अर्थात् एक वस्तु में दूसरी वस्तु की बुद्धि (ज्ञान) प्राप्त होना अध्यास कहा जाता है।

1.8.2. अध्यास के भेद

'सर्वदर्शन संग्रह' में अध्यास के दो भेद बताये गये हैं, अर्थाध्यास एवं ज्ञानाध्यास। सीपी पर रजत का मिथ्या अध्यास होना 'अर्थाध्यास' है। यह वही भ्रम है जिसमें मिथ्या का आधार कोई पदार्थ रहता है। एक अर्थ (वस्तु) का दूसरे पर आरोप होना अर्थाध्यास (Superimposition of Objects) है। जब मिथ्याज्ञान का आत्मा पर आरोप होता है तो उसे ज्ञानाध्यास कहते है।

अर्थाध्यास दो प्रकार का है– स्वरूपाध्यास और संसर्गाध्यास। स्वरूपाध्यास में एक वस्तु में अन्य वस्तु स्वरूप से ही आरोपित हो जाती है जैसे रजत सीपी में स्वरूप से अध्यस्त या आरोपित हो जाने के कारण इसे 'स्वरूपाध्यास' कहते है।

संसर्गाध्यास तब होता है जब एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ सम्बन्ध होता है, जैसे सीपी के साथ रजत का सम्बन्ध संसर्गाध्यास है। स्वरूपाध्यास एवं संसर्गाध्यास को इस रूप में भी देखा जा सकता है कि आत्मा में ही अनात्मा की प्रतीति स्वरूपाध्यास है और आत्मा का अनात्मा (बुद्धि आदि) में प्रतीति संसर्गाध्यास है।

1.8.3. अध्यास की मूल विशेषताएँ

(i) शंकराचार्य के अनुसार अध्यास अज्ञान रूप होने के कारण अनादि है और सामान्य रूप में मनुष्य में अज्ञान बना रहता है, जिसके कारण 'सत्यानृते मिथुनीत्य' की अवस्था उत्पन्न होती है और जिससे यह लोकव्यवहार चल रहा है। अतएव अध्यास अनन्त भी है।

(ii) अध्यास नैसर्गिक है। अन्तःकरण एवं चैतन्य के संयोग से ही अध्यास उत्पन्न होता है। हमारी बुद्धि वृत्ति ही भेद उत्पन्न करती है, जिसके कारण ज्ञान पर आवरण पड़ जाता है। यह सब प्राकृतिक या नैसर्गिक ढंग से होता है।

(iii) अध्यास से ही सम्पूर्ण लोक व्यवहार संचालित हो रहा है। अतएव अध्यास जगत में सभी लोगों के लिए है और इसीलिए इसे 'सार्वजनिक' कहा जाता है।

(iv) अध्यास मिथ्या ज्ञान रूप है। अध्यास स्वयं में मिथ्या है किन्तु मिथ्या की ही सत् के रूप में प्रतीति होती है। सत् तो एक मात्र ब्रह्म है और ब्रह्म के अतिरिक्त हमें जिस प्रपंचात्मक जगत् की अध्यास के कारण प्रतीति हो रही है वह मिथ्या प्रतीति है।

(v) अध्यास के कारण ही जीव को कर्त्तापन एवं भोक्तापन की अनुभूति होती है। अज्ञानवश कुछ लोग अहं–प्रतीति के विषय जीवात्मा को ही वास्तविक

आत्मा मान बैठते हैं, जिसके कारण ही उनमें कर्तृत्व एवं भोक्तृत्व का भाव आ जाता है और वे संसार में संचरण करते रहते हैं।

1.9. शंकराचार्य के मायावाद के विरुद्ध शंकाएँ

शंकराचार्य के मायावाद के विरुद्ध कुछ लोगों ने शंकाएँ उठायी हैं, जो इस प्रकार हैं–

1.9.1. माया क्या है

शंकराचार्य के कुछ विरोधियों ने उनके मायावाद के विरूद्ध यह प्रश्न उठाये हैं कि शंकराचार्य को 'माया' क्या है? यह किसकी माया है? वह कहाँ प्रतीत होती है वह कब से जीवों को भ्रमित कर रखा है? इस प्रकार के उठाये गये विभिन्न प्रश्नों को शंकराचार्य निरर्थक मानते है। शंकराचार्य का यह कहना है कि जब तक हम माया से ग्रसित है, तब तक व्यवहारिक रूप में यह समस्याएँ भी बनी रहेंगी और ज्योंही हम माया से मुक्त होकर पारमार्थिक सत्ता की अनुभूति कर लेंगे त्यों ही इन समस्याओं का भी अन्त हो जाएगा।

1.9.2 ब्रह्म ही माया का आश्रय

मायावाद के सम्बन्ध में दूसरी शंका यह उठायी जाती है कि यदि ब्रह्म ही माया का आश्रय और विषय है, तो वह भी माया से प्रभावित होता होगा। ऐसा नहीं हो सकता कि माया ब्रह्म में निवास करे और वह उससे प्रभावित न हो। इस शंका के समाधान में शंकराचार्य कहते हैं कि जिस प्रकार कोई जादूगर अपने जादू से दूसरों को तो प्रभावित कर लेता है, किन्तु स्वयं अपने जादू से प्रभावित नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्म अपनी माया से जीवों को तो प्रभावित करता है, पर स्वयं वह अपनी माया से प्रभावित नहीं होता।

1.9.3. माया जनित जगत

कुछ लोग यह शंका करते हैं कि शंकराचार्य जगत् को मायाजनित कहकर जगत् का तिरस्कार किया है। जगत् रज्जु–सर्प या शक्ति–रजत के समान मिथ्या है, किन्तु जगत् एक वास्तविकता है। इसे रज्जु–सर्प के समान मिथ्या कैसे कहा जा सकता है? इस प्रश्न के सम्बन्ध में शंकराचार्य यह कहते हैं कि व्यावहारिक दृष्टि से जगत् मिथ्या नहीं है, परमतत्व स्वरूप ब्रह्म का साक्षात्कार होने के पश्चात् जगत् की प्रतीति मिथ्या सिद्ध होती है।

1.9.4. जगत माया जन्म है?

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त के विरूद्ध एक अन्य आक्षेप यह भी लगाया जाता है कि यदि सम्पूर्ण जगत् मायाजन्य है और मिथ्या है, तो साधक और साधन भी मिथ्या हों। अब एक मिथ्या साधक मिथ्या साधन के द्वारा सत् साध्य की सिद्धि किस प्रकार कर सकता है? इस आक्षेप के उत्तर में शंकराचार्य कहते हैं कि कभी–कभी मिथ्या साधन के द्वारा भी हमारी समस्याओं का समाधान मिल जाता है, जैसे दर्पण का प्रतिबिम्ब मिथ्या है किन्तु इससे बिम्ब के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। स्वप्न का शेर मिथ्या है, किन्तु उसके भय के कारण मनुष्य जागृतावस्था में आ जाता है। इस प्रकार शंकराचार्य कहते हैं कि जब तक किसी को आत्मसाक्षात्कार नहीं प्राप्त हो जाता है, तब तक उसके लिए जगत् वास्तविक ही है। आत्मसाक्षात्कार के बाद ही जगत् मिथ्यात्व सिद्ध होता है। पारमार्थिक एवं

व्यवहारिक सत्ताओं में भेद न करने के कारण ही हमारे मस्तिष्क में सारी समस्याएं उत्पन्न होती है।

1.10. निष्कर्ष

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि शंकराचार्य ने अपने मायावाद की अवधारणा के द्वारा यह दिखाया है कि यह जगत् भी एक प्रकार का भ्रम है। उस भ्रम का कारण अज्ञान है। अज्ञान का कारण आवरण और विक्षेप होता है अर्थात ब्रह्म का स्वरूप आच्छादित होकर जगत् के रूप में आभासित होता है। वास्तविकता यह है कि शंकराचार्य किसी वस्तु को सत् या असत् कहते हैं, तो सत् का अर्थ त्रिकालाबाधित सत् होता है और असत् का अर्थ पूर्णतया असत् होता है। जहाँ तक जगत का सवाल है, वह बन्ध्यापुत्र के समान असत् भी नहीं है क्योंकि उसका प्रव्यक्ष होता है। अतएव जगत् सदसद्विलक्षण है। उसके भीतर पारमार्थिक सत्यता भले ही न हो, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से वह सत् ही है।

प्रश्नावली

लघु उत्तरीय प्रश्न–

1. शंकराचार्य की माया क्या है?
2. माया का मूल स्रोत क्या है?
3. माया और अविद्या पर चर्चा करें।
4. मण्डन मिश्र के अनुसार माया का स्वरूप क्या है?
5. अध्यास की मूल विशेषताएँ क्या है?

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न–

1. शंकर की माया पर एक निबन्ध लिखिए।
2. अद्वैत वेदान्त में माया की प्रमुख विशेषताओं को स्पष्ट करें।

****

इकाई–2

शंकर के मायावाद का रामानुज द्वारा खण्डन

संरचना

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2. आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त में माया

2.3 माया का निवास ब्रह्म में है।

2.4 माया, अविद्या और भ्रम

2.5 शंकर एवं रामानुज के माया सम्बन्धी दृष्टिकोण

2.6 परिणामवाद और विवर्तवाद

2.7 आचार्य शंकर माया को अध्यासरुप मानते हैं।

2.8 आचार्य शंकर के अनुसार यथार्थ प्रत्यक्ष और भ्रम में भेद

2.9 आचार्य शंकर के मायावाद की सामान्य विशेषताएं

2.10 रामानुज द्वारा शंकर के मायावाद की आलोचना

2.10.1 आश्रयानुपपत्ति

2.10.2 तिरोधानानुपपत्ति

2.10.3 स्वरुपानुपपत्ति

2.10.4 अनिर्वचनीयानुपपत्ति

2.10.5 प्रमाणानुपपत्ति

2.10.6 निर्वतकानुपपत्ति

2.10.7 निवृत्यानुपपत्ति

2.11 निष्कर्ष

2.12 सारांश

2.13 बोध प्रश्न

2.14 सहायक पुस्तकें

2.0 उद्देश्य

आचार्य शंकर ने एक ओर सृष्टि का वर्णन किया है, दूसरी ओर नाना विषयात्मक जगत् को मिथ्या कहा है। इन दोनों बातों का सामंजस्य कैसे किया जाय? यदि सृष्टि को सत्य मानते हैं तो फिर नाना रूपात्मक जगत् की सत्यता को कैसे अस्वीकार किया जा सकता है? इस प्रकार के प्रश्न के साथ ही आचार्य शंकर इस प्रश्न पर भी विचार करते हैं कि यदि ब्रह्म वस्तुतः निर्गुण और निर्विकार है, तो फिर वह सृष्टिकर्त्ता कैसे हो सकता है? यदि उसका कर्त्तृत्व सत्य है तो वह निर्गुण और अविकारी कैसे है? ये दोनों ही बातें एक साथ कैसे सत्य हो सकती हैं? पुनश्च शास्त्रों में यह बात कही गयी है कि ब्रह्मज्ञान हो जाने पर नानात्व दूर हो जाता है। यदि सृष्टि को सत्य मान लिया जाय तो यह भी समझ में नहीं आ सकता कि ब्रह्म ज्ञान हो जाने पर कैसे नानात्व दूर हो जाता है? यदि जगत् सत्य है तो तिरोहित कैसे हो जाता है? ब्रह्म ज्ञान हो जाने पर केवल मिथ्या ज्ञान (सत् में असत् की प्रतीति) का बाध हो सकता है। यदि जगत् सत्य है तो उसके नानात्व ज्ञान का कैसे बाध होगा? आचार्य शंकर ने जगत् एवं ब्रह्म के सम्बन्ध को लेकर उठने वाले अनेक प्रकार के प्रश्नों का समाधान मायावाद के द्वारा करने का प्रयास किये हैं।

2.1 प्रस्तावना

आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त में 'माया' की अवधारणा के द्वारा ब्रह्म को एकमात्र पारमार्थिक दृष्टि से सत्य सिद्ध किया है तथा प्रपंचात्मक जगत् को ब्रह्म के माया शक्ति की उपज बताया है। इसलिए आचार्य शंकर के अद्वैतवाद को 'माया' की अवधारणा से पृथक करके समझा जा सकता है। आचार्य शंकर की यह स्पष्ट मान्यता है कि ब्रह्म एक निर्गुण निर्विशेष एवं भेदरहित सत्ता है। उससे भिन्न कोई ऐसी सत्ता नहीं है जिसे त्रिकाल में अबाधित सत्ता के रुप में सत्य माना जाय? परन्तु सांसारिक जीवन व्यतीत करने वाला मनुष्य यह अनुभव करता है कि नाना रुपात्मक प्रपंच जगत की जो प्रतीति होती है क्या इसे नितान्त असत् मान लिया जाय? आचार्य शंकर को पारमार्थिक दृष्टि से सत्य मानने के साथ–साथ व्यावहारिक सत्य और प्रतिभासिक सत्य की भी बात करते हैं। आचार्य शंकर के अनुसार जगत् व्यावहारिक रुप में सत्य है। उन्होंने प्रातिभासिक सत्ता के अन्तर्गत स्वप्न, भ्रम इत्यादि को रखा है। जिसका बाध यथार्थ ज्ञान से हो जाता है। प्रायः सभी ईश्वरवादियों के लिए ईश्वर की पारमार्थिक सत्ता के साथ जगत्, जीव, प्रपंच का सामंजस्य स्थापित करने का प्रयास किये हैं, किन्तु कोई समुचित समाधान प्रस्तुत नहीं कर पाये हैं। आचार्य शंकर ने अपने अद्वैत वेदान्त में इस समस्या के समाधान के लिए 'माया' की अवधारणा को प्रस्तावित किया है।

2.2 आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त में माया

आचार्य शंकर ने माया की अवधारणा के द्वारा निर्गुण, निर्विशेष एवं निर्विकार ब्रह्म के स्थान पर प्रपंचात्मक जगत एवं जीवों की अनेकता का प्रतिपादन करते हैं। आचार्य शंकर के पूर्व सबसे पहले माया शब्द का प्रयोग 'ऋग्वेद' में मिलता है, जहाँ यह कहा गया है कि ''एक ही इन्द्रिय माया के प्रभाव से नाना रुपों में प्रकट होती है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा गया है कि– 'माया तु प्रकृतिं विद्यात–मयानिं तु माहेश्वरम' अर्थात ब्रह्म की माया प्रकृति है।'' आचार्य शंकर ने

ब्रह्म एवं जगत के सम्बन्ध की समुचित व्याख्या के लिए 'माया' की अवधारणा का सहारा लेते हैं। आचार्य शंकर ने अपने अद्वैत वेदान्त में 'माया' और अविद्या को पयार्यवाची के रुप में प्रयोग किया था। आचार्य शंकर ने 'माया' के लिए अविद्या, अध्यास, अध्यारोप, भ्रान्ति, विर्वत, भ्रम, नामरुप, अव्यक्त, मूल प्रकृति आदि शब्दों से व्यवहृत किया है। परन्तु आचार्य शंकर परवर्ती अद्वैत वेदान्तियों ने 'माया' और 'अविद्या' का प्रयोग एक ही अर्थ में न करते हुए 'माया' और अविद्या में भेद किया। आचार्य शंकर के परवर्ती अद्वैत वेदान्तियों का कहना है कि 'माया' भावात्मक है और अविद्या निषेधात्मक है। माया को भावात्मक इसलिए कहा जाता है कि माया के द्वारा ब्रह्म सम्पूर्ण विश्व की रचना करता है। माया विष्व को प्रस्थापित करती है। 'अविद्या' माया के विपरीत ज्ञान के अभाव को संकेत करने के कारण निषेधात्मक है। 'माया' और 'अविद्या' में अन्य अन्तर यह है कि 'माया' ईश्वर को प्रभावित करती है जबकि अविद्या जीव को प्रभावित करती है। माया और अविद्या में यह भी अन्तर है कि माया का आर्विभाव मूलतः सत्व गुण से हुआ है, जबकि सत्व रज और तम तीनों गुणों के सम्मिलित रुप से अविद्या का आर्विभाव हुआ है, इसलिए माया का स्वरुप सात्विक है और अविद्या का स्वरुप त्रिगुणात्मक है।

2.3 माया का निवास ब्रह्म में है

माया के सम्बन्ध में प्रायः यह प्रश्न उठता है कि माया का निवास स्थान कहाँ है? दूसरे शब्दों में माया रहती कहाँ है? शंकर का कहना है कि माया का निवास स्थान ब्रह्म है। आचार्य शंकर का कहना है कि चूँकि ब्रह्म अपरिवर्तनशील सत्ता है, इसलिए ब्रह्म माया का आश्रय होते हुए भी माया से प्रभावित नहीं होता है। आचार्य शंकर अपनी बात को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार रूपहीन आकाश पर आरोपित नीले रंग का प्रभाव आकाश पर नहीं पड़ता तथा जिस प्रकार जादूगर के जादू की प्रवीणता का प्रभाव स्वयं जादूगर पर नहीं होता है, उसी प्रकार माया का प्रभाव भी ब्रह्म पर नहीं पड़ता। 'माया' ब्रह्म की शक्ति है। माया ब्रह्म में उसी प्रकार विद्यमान रहती है जिस प्रकार अग्नि की दाहकता अग्नि से अभिन्न है। इसी माया की शक्ति के द्वारा ब्रह्म नानारुपात्मक सृष्टि की अद्‌भुत लीला दिखलाते हैं। इस लीला को अज्ञानी सत्य समझने लगते हैं, किन्तु जो तत्वज्ञानी हैं, वे इस लीला को समझ जाते हैं और इस मायामय संसार में केवल ब्रह्म ही उन्हें सत्य जान पड़ता है। इस प्रकार आचार्य शंकर यह स्पष्ट करते हैं कि माया ब्रह्म की शक्ति है, जिसके द्वारा ब्रह्म नानारूपात्मक जगत को उपस्थित करता है।

2.4 माया, अविद्या और भ्रम

जीवन में साधारणतः किस प्रकार भ्रम होते हैं, इसे यदि हम समझने की कोशिश करें, तो यह देखने में आता है कि वास्तविक अधिष्ठान या आधार का ज्ञान नहीं रहने के कारण भ्रम उत्पन्न होता है जैसे रस्सी का यथार्थ ज्ञान नहीं होने के कारण उसमें साँप का भ्रम उत्पन्न होता है। यदि हम रस्सी को रस्सी जानते तो उसके विषय में भ्रम नहीं होता। परन्तु रस्सी का ज्ञान मात्र भ्रम का कारण नहीं है, क्योंकि वैसी स्थिति में जिसे रस्सी का ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ वह सदैव साँप ही साँप देखा करता। जिस अविद्या के कारण भ्रम उत्पन्न होता है, वह केवल अधिष्ठान का आवरण ही नहीं करती उस पर विक्षेप भी कर देती है। आवरण का अर्थ है यथार्थ स्वरुप को ढक देना। विक्षेप का अर्थ है उस पर दूसरी

वस्तु का आरोप कर देना है। ये दोनों ही अविद्या या अज्ञान के कार्य हैं, जिनसे हमारे मन में भ्रम पैदा होता है।

आचार्य शंकर ने 'माया' और 'अविद्या' को एक ही प्रकार का मानते हुए यह दिखाते हैं कि जिस प्रकार कोई जादूगर जादू का खेल दिखाकर हमें भ्रम में डाल देता है (जैसे एक ही सिक्के को अनेक सा बनाकर दिखा देता है), तब दर्शक भ्रम में पड़ जाते हैं। किन्तु स्वयं बाजीगर उस भ्रम में नहीं पड़ता। हममें वह भ्रम या अविद्या अज्ञान के कारण उत्पन्न होता है। जिसके कारण वस्तु का स्वरुप छिप जाता है और उसके स्थान पर दूसरी वस्तु दिखायी पड़ती है। यदि कोई दर्शक उस एक सिक्के का वास्तविक रुप ही देखता रहे तो जादू की जादूगरी उसे भ्रमित नहीं कर सकती, यह तो हमारी दृष्टि के दोष के कारण हुआ। जादूगर की दृष्टि से वह भ्रम केवल माया करने की शक्ति है, जिससे दर्शक भ्रम में पड़ जाते हैं, स्वयं जादूगर नहीं। इसी प्रकार से सृष्टि की माया भी दो प्रकार से समझी जा सकती है। माया ईश्वर के लिए केवल लीला की इच्छा है। ईश्वर स्वयं उस माया से प्रभावित नहीं होता। हम लोग अज्ञानी हैं, उसे देखकर भ्रम में पड़ जाते हैं और एक ब्रह्म के स्थान पर नाना प्रपंचात्मक जगत् को देखने लगते है। इस प्रकार माया हम लोगों के लिए भ्रम का कारण है। इस अर्थ में 'माया' को अज्ञान या अविद्या भी कहते है। माया के भी दो कार्य हैं– जगत् आधार, ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप छिपा देना और उसे जगत् के रुप में आभासित करना। इस विशेष शक्ति के कारण 'माया' को भावरुप अज्ञान कहते हैं। सृष्टि का आरम्भ कभी किसी काल में हुआ, ऐसा नहीं कहा जा सकता। अतएव माया को अनादि कहा जाता है। माया को अनादि इसलिए भी कहा जाता है क्योंकि माया ब्रह्म के साथ ही शक्ति के रुप में उसी में अन्तर्निहित है। इसलिए आचार्य शंकर कहते हैं कि जो ब्रह्म ज्ञानी हैं वे संसार के मिथ्यात्व को समझते हैं, वे संसार को ब्रह्ममय देखते हैं, उनके लिए न कोई भ्रम और न ही कोई माया है। ब्रह्म ज्ञानी के लिए ईश्वर भी मायावी नहीं है, अपितु वह ही केवल पारमार्थिक दृष्टि से सत्य सत्ता के रुप में अनुभूत होता है।

2.5 शंकर एवं रामानुज के माया सम्बन्धी दृष्टिकोण

रामानुज शंकर से भिन्न दृष्टिकोण रखते हुए श्वेताश्वतर उपनिषद् के दृष्टिकोण का अनुसरण करते हुए 'माया' का उल्लेख तो करते हैं, किन्तु वे माया से ईश्वर की वास्तविक सृष्टि करने की शक्ति समझते हैं अथवा ब्रह्म में अवस्थित नित्य अचेतन तत्व को शंकर भी माया को ब्रह्म की शक्ति समझते हैं, किन्तु उनके अनुसार यह शक्ति ब्रह्म का नित्य स्वरुप नहीं है। यद्यपि शक्ति रुप में माया ब्रह्म से भिन्न नहीं है, अपितु शक्ति रुप में माया ब्रह्म उसी प्रकार अभिन्न और अविच्छेद है, जिस प्रकार दाहकता अग्नि से अभिन्न है और संकल्प मन से अविच्छिन तथा अभिन्न है। जब शंकर प्रकृति को 'माया' कहते हैं तब उनका अर्थ यही होता है कि यह रचनात्मिका शक्ति या माया ही उन लोगों के लिए संसार की प्रकृति (आदि या मूल कारण) है, जो संसार को देख रहे हैं। अतएव शंकर एवं रामानुज का माया के सम्बन्ध में दृष्टिकोण सम्बन्धी भेद यह है कि रामानुज के अनुसार ब्रह्म के अवस्थित अचित् तत्व में (इसलिए ब्रह्म में भी) वास्तविक परिवर्तन होता है जबकि शंकर का मत है कि ब्रह्म अपरिवर्तनशील सत्ता है।

2.6 परिणामवाद और विवर्तवाद

किसी द्रव्य के विकार का आभास (जैसे रस्सी का साँप के रुप में दिखायी पड़ना) 'विवर्त' कहलाता है और वास्तविक विकार या परिणाम (दूध का दही बन जाना) है। अतएव सृष्टि के सम्बन्ध में शंकर के मायावाद के विचार की तार्किक परिणति विवर्तवाद है तथा इसके विपरीत सांख्य एवं रामानुज का मत एक प्रकार का परिणामवाद है। सांख्य सम्पूर्ण सृष्टि को प्रकृति का परिणाम मानता है और रामानुज ब्रह्म के उचित् अंष को ही संसार के रुप में सरुपान्तरण मानते हैं। यद्यपि विवर्तवाद और परिणामवाद दोनों ही इस बात से सहमत हैं कि कार्य पहले से ही अपने उपादान कारण में विद्यमान रहता है। अतएव दोनों ही सत्कार्यवाद (अर्थात कार्य पहले ही से अपने उपादान कारण में सत् या विद्यमान था वह कोई नई वस्तु नहीं है; इस मत) का समर्थन करते हैं।

2.7 आचार्य शंकर माया को अध्यासरूप मानते हैं।

आचार्य शंकर के अनुसार 'माया' अध्यास रुप है। जहाँ जो वस्तु नहीं है, उसे वहाँ कल्पित करना 'अध्यास' कहलाता है। वर्तमान मनोविज्ञान की भाषा में इसे एक प्रकार का प्रक्षेपण (Projection) कहते हैं। जहाँ–जहाँ भ्रान्त प्रत्यक्ष होता है, वहाँ–वहाँ ऐसा अध्यास होता है। जिस प्रकार रस्सी में सर्प अध्यस्त हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्म में जगत् अध्यस्त हो जाता है। इस प्रकार आचार्य शंकर सम्पूर्ण सृष्टि प्रक्रिया को ब्रह्म का विवर्त या अध्यास मात्र मानते हैं। आचार्य शंकर ने अपने अद्वैतवाद की स्थापना के लिए माया, अविद्या तथा अध्यास विषयक अवधारणा का प्रतिपादन किये हैं। आचार्य शंकर का स्पष्ट मत है कि किसी वस्तु का आकार उससे भिन्न सत्ता नहीं है। इसलिए आकार की कल्पना द्रव्य से पृथक नहीं की जा सकती। यदि द्रव्य उसी रुप में विद्यमान रहे तो केवल आकार परिवर्तन वास्तविक परिवर्तन नहीं कहा जा सकता। आचार्य शंकर का कारण कार्य के रुप में हम जो परिवर्तन देखते हैं वह केवल मानसिक आरोप या विक्षेप मात्र है। इसी को आचार्य शंकर अध्यास कहते हैं। इस प्रकार की मिथ्या कल्पना का कारण 'अविद्या' है जो हमें भ्रम में डाल देती है और 'असत्' में सत् का आभास कराती है। यही कारण है कि आचार्य शंकर अज्ञान, अविद्या या माया के रुप में अध्यास को निरुपित करते हैं और यह विचार व्यक्त करते हैं कि 'माया' या 'अविद्या' के कारण ही संसार की प्रतीति होती है। आचार्य शंकर का यह मानना है कि सांसारिक विषय शुद्ध सत् नहीं कहे जा सकते क्योंकि वे विशेष विकारशील हैं किन्तु वे बन्ध्यापुत्र के समान सर्वथा असत्, अलीक या तुच्छ भी नहीं कहे जा सकते, क्योंकि उनकी भी सत्ता है जो उनके रुप में आभासित हो रही है। इस कारण वे न सत् कहे जा सकते हैं और न ही असत्। इसलिए वे अनिर्वचनीय है। यह समस्त विषय संसार और उनकी जननी 'माया' या 'अविद्या' भी सत्, असत् से विलक्षण होने के कारण अनिर्वचनीय है।

2.8 आचार्य शंकर के अनुसार यथार्थ प्रत्यक्ष और भ्रम प्रत्यक्ष में भेद

अद्वैतवादी आचार्य शंकर यथार्थ प्रत्यक्ष और भ्रम प्रत्यक्ष में भेद करते हैं। इसलिए यथार्थ प्रत्यक्ष और भ्रम प्रत्यक्ष में भेद के कारण अज्ञान के भी दो प्रकार माने गये हैं। आचार्य शंकर का कहना है कि जिस मूल अविद्या के कारण

व्यावहारिक जगत् का प्रत्यक्ष अनुभव होता है, वह 'मूलविद्या' कहलाती है। इसके अतिरिक्त जिस अविद्या के कारण सर्पादि का तात्कालिक भ्रम उत्पन्न होता है, वह 'तूलाविद्या' कहलाती है। इस प्रकार आचार्य शंकर का यह मानना है कि यदि जगत् से इसके सब विषयों के मूल व्याभिचारी अधिष्ठान या कारण तत्व को समझा जाय तो उनका यह स्पष्ट मत है कि जगत् अवष्य सत्य है। उनका यह स्पष्ट कहना है कि जैसे कारण रूपी ब्रह्म की सत्ता त्रिकाल में रहती है, वैसे ही (सत्ता रूपेण) जगत् भी त्रिकाल में सत्व नहीं खोता क्योंकि कारण– कार्य अभिन्न हैं। पुनष्च नाना नाम रुपात्मक विषय रुप जगत् सत्तारूपेण सत्य हैं किन्तु ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य सत्ता पारमार्थिक दृष्टि से सत्य न होने के कारण जगत् विशेष रुप में असत् है।

2.9 आचार्य शंकर के मायावाद की सामान्य विशेषताएं

अद्वैत वेदान्त में माया की अवधारणा विशिष्ट ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता के साथ जगत, जीव, प्रपंच का सामन्जस्य स्थापित करने का प्रयास किया है।

अद्वैत वेदान्त में माया की अवधारणा का प्रतिपादन निर्गुण, निर्विशेष एवं भेदरहित ब्रह्म के स्थान पर प्रपंचात्मक जगत् एवं जीवों की विविधता की व्याख्या करने के लिए किया गया है। अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म को ही एकमात्र पारमार्थिक दृष्टि से सत् माना है और यह कहा गया है कि– ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवों बह्मैवनापरः अर्थात एक मात्र पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है और जीव तथा ब्रह्म एक दूसरे से भिन्न नहीं है। अद्वैत वेदान्त जगत पारमार्थिक दृष्टि से सत्य। वास्तव में अद्वैत वेदान्त में माया की अवधारणा का प्रतिपादन ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता के साथ जगत, जीव प्रपंच का ही सामंजस्य स्थापित करना हैं शंकराचार्य की मान्यता है कि माया के कारण ही निर्गुण, निर्विशेष एवं भेदरहित ब्रह्म के स्थान पर प्रपंचात्मक जगत एवं जीवों की विविधता का अनुभव होता है।

आचार्य शंकर ने 'माया' और अविद्या को एक ही अर्थ में व्यवहृत किया था, किन्तु कालान्तर में शंकर के अनुयायियों ने 'माया' एवं अविद्या में भेद किया। शंकराचार्य के अनुयायियों ने माया को भावात्मक कहा है और अविद्या को अभावात्मक कहा है। माया में प्रतिबिम्बित ब्रह्म ईश्वर है, किन्तु अविद्या में प्रतिबिम्बित ब्रह्म जीव है। माया ब्रह्म की शक्ति है जबकि अविद्या के कारण जीव अपने वास्तविक स्वरुप से अनभिज्ञ रहता है। माया का स्वरुप सात्विक है, जबकि अविद्या त्रिगुणात्मक है। इस प्रकार यद्यपि आचार्य शंकर के अनुयायियों ने 'माया' एवं 'अविद्या' में भेद करने का प्रयास किया है; अद्वैत वेदान्त की माया के निम्नलिखित लक्षणों को स्वीकार किया जाता है–

(1) आचार्य शंकर के अनुसार 'माया' अचेतन है और अपनी सत्ता के लिए ब्रह्म पर आश्रित है।

(2) शंकर का मानना है कि माया अनादि है; किंतु अनन्त नहीं है। माया का अस्तित्व तब तक है जब तक ब्रह्म की अनुभूति नहीं होती है। इसलिए माया ब्रह्म ज्ञान की अनुभूति नहीं होती है। अतएव माया ब्रह्म ज्ञान से निरसित होने के कारण शान्त है।

(3) माया ब्रह्म की स्वाभाविक शक्ति है। ब्रह्म अपनी मायारूपी शक्ति के द्वारा ही नाना नाम–रूपमय प्रपंचात्मक जगत् को उत्पन्न करता है। माया ब्रह्म का

स्वरूप नहीं है; किन्तु माया ब्रह्म की स्वाभाविक शक्ति होने के कारण ब्रह्म के साथ तादात्म्य सम्बन्ध के रुप में विद्यमान रहती है।

(4) माया भावात्मक है; क्योंकि माया के कारण ही नाना रूपात्मक प्रपंचात्मक जगत् की उत्पत्ति सम्भव है।

(5) माया अनिर्वचनीय है; क्योंकि माया न तो सत् है न असत् है, न सदसत् दोनों है और न सत् एवं असत् दोनों नहीं है। माया अपनी सत्ता के लिए ब्रह्म पर पूर्णतः आश्रित होने के कारण सत् नहीं है। माया अनुभव जगत का विषय होने के कारण असत् नहीं है। यह इसलिए भी असत् नहीं है; क्योंकि यह ब्रह्म पर जगत् को आरोपित करती है। यदि इसे सदसत् दोनों माना जाय तो यह आत्म विरोधी होगी। इसलिए तार्किक दृष्टि से माया (अनिर्वचनीय) या 'सद्सद्विलक्षण' है।

(6) माया अध्यास है। अतत् में तत् की प्रतीति अध्यास है। अतस्मिन् तद्बुद्धिरिति अध्यासः अर्थात जहाँ जो वस्तु नहीं है वहाँ उसकी प्रतीति है। यह ब्रह्म में नाना रूपात्मक जगत का आरोप करती है; जबकि ब्रह्म यथार्थ में प्रपंचातीत है।

(7) माया विवर्तमात्र है और इसकी व्यावहारिक सत्ता (Empilical real) है। विर्वतवाद के अनुसार कार्य कारण का आभास मात्र है; वास्तविक रुपान्तरण नहीं। माया के कारण ही ब्रह्म का जगत के रुप में आभास होता है और जगत् व्यावहारिक रुप में सत्य प्रतीत होता है।

(8) माया का आश्रय एवं विषय ब्रह्म है। माया ब्रह्म में ही निवास करती है और जगत की उत्पत्ति के लिए ब्रह्म को ही अपना विषय बनाती है। ब्रह्म माया का विषय एवं आश्रय होने पर भी उससे वैसे ही प्रभावित नहीं होता है; जैसे जादूगर अपनी जादूई शक्ति से प्रभावित नहीं होता है।

(9) माया विज्ञान निरस्या है (Removal by right knowledge)। ब्रह्म ज्ञान से प्रपंचात्मक जगत् का ज्ञान बाधित हो जाता है।

(10) माया की दो शक्तियां है– आवरण (Concealment) एवं विक्षेप (Projection)। माया आवरण शक्ति के कारण ब्रह्म के वास्तविक स्वरुप को ढ़क लेती है। और विक्षेप शक्ति के द्वारा ब्रह्म के स्थान पर प्रपंचात्मक जगत् आरोप करके ब्रह्म से भिन्न सत्ता का अभ्यास कराती है।

इस प्रकार आचार्य शंकर अपने मायावाद के द्वारा यह स्पष्ट करते हैं कि माया के कारण ही ब्रह्म के पारमार्थिक सत्ता के स्थान पर प्रपंचात्मक जगत् एवं नाना रुपात्मक जीवों की विविधता का आभास होता है। माया ही वह कड़ी है जो ब्रह्म से जगत के उत्पत्ति को तार्किक दृष्टि से संभव बनाती है।

2.10 रामानुज द्वारा शंकर के मायावाद की आलोचना

रामानुज शंकर के मायावाद की आलोचना करते हुए 'माया' को ब्रह्म की वास्तविक शक्ति मानते हैं। रामानुज शंकर द्वारा वर्णित माया की अवधारणा को तर्कतः अनुपन्न सिद्ध करते हैं; जिन्हें 'सप्तानुपपत्ति' कहते हैं। रामानुज शंकर के मायावाद के विरुद्ध दी गयी 'सप्तानुपत्ति निम्नलिखित है–

2.10.1 'आश्रयानुपत्ति'

रामानुज शंकर के मायावाद को तर्कतः असिद्ध मानते है; क्योंकि माया का आश्रय न तो ब्रह्म है और न ही जीव है। ब्रह्म ज्ञान स्वरुप है और जीव अविद्या का कार्य है। इस प्रकार माया न तो ब्रह्म में रह सकती है और न जीव में। यह शंकर की कल्पनामात्र है। आचार्य शंकर माया का आश्रय वैसे ही ब्रह्म को मानते हैं; जैसे जादूगर का आश्रय होते हुए भी उससे प्रभावित नहीं होता है। माया से ब्रह्म इसलिए भी प्रभावित नहीं होता क्योंकि माया का विरोध विद्या से है चैतन्य स्वरुप से नहीं।

2.10.2 'तिरोधानानुपपत्ति'

रामानुज का मानना है कि शंकर द्वारा वर्णित माया द्वारा ब्रह्म का तिरोधान तर्कतः असिद्ध है; क्योंकि यदि माया द्वारा ब्रह्म का तिरोधान संभव माना जाय तो ब्रह्म स्वंय प्रकाश एवं सर्वशक्तिमान नहीं रह जाता है। शंकर के अनुयायियों ने रामानुज के तर्क के प्रत्युत्तर में कहा है कि माया स्वयं मिथ्या है, अतः उसके द्वारा ब्रह्म वैसे ही आवरण पड़ता है; जैसे सूर्य को मेंघ ढक लेता है; तो सूर्य वस्तुतः मेंघ से आच्छादित नहीं हो जाता; अपितु आवरण केवल हमारी दृष्टि पर पड़ जाता है।

2.10.3 'स्वरुपानुपपत्ति'

रामानुज शंकर के माया के सम्बन्ध में यह सवाल उठाया है कि यदि माया का अस्तित्व है; तो उसका स्वरुप क्या है? यदि माया भाव रूप है तो ब्रह्म अद्वैत सत्ता नहीं रह जाता तथा उसका निराकरण भी नहीं होगी। माया को भावाभावरुप मानने पर आत्मविरोध होगा। यह कहना कि माया न तो भावरूप है और न ही अभाव रूप ही है; तो ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण चिन्तन का ही परित्याग करना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में यदि माया का अस्तित्व है तो वह विचार के परे है। शंकर के अनुयायियों का मानना है कि माया भाव रुप होते हुए भी अपनी सत्ता के लिए ब्रह्म पर आश्रित है। माया को भाव रूप कहने का तात्पर्य मात्र इतना ही है कि वह अभावरूप नहीं है।

2.10.4 'अनिवर्चनीयानुपपत्ति'

रामानुज की आपत्ति शंकर की माया की अनिवर्चनीयता के सम्बन्ध में भी है। माया की अनिवर्चनीयता अनुप्पन्नम है। माया को अनिवर्चनीय कहने पर विचार का मध्यम परिहार नियम भी बाधित होता है। शंकर के अनुयायियों का कहना है कि जो न तो सत् और न ही असत् है; तो उसे अनिवर्चनीय ही कहा जाएगा तथा माया को 'अनिर्वचनीय कहने में मध्यम परिहार विकल्प व्यापक नहीं है; क्योंकि सत् और असत् के विकल्प व्यापक नहीं है; अतः तृतीय विकल्प (अनिवर्चनीयता) सम्भव है।

2.10.5 'प्रमाणानुपपत्ति'

रामानुज के अनुसार माया के लिए कोई प्रमाण नहीं है। शास्त्र इसके केवल ब्रह्म की लीला कहते हैं। अतएव माया का प्रमाणत्व असिद्ध है। अद्वैत वेदान्त के समर्थकों का कहना है कि माया के लिए प्रमाण है। माया का ज्ञान हमें अर्थापत्ति प्रमाण से होता है। अतएव शंकर के माया का प्रमाणत्व सिद्ध नहीं है।

2.10.6 निवर्तकानुपपत्ति'

रामानुज के अनुसार यदि शंकर की माया की अवधारणा को स्वीकार भी किया जाएँ तो उसका कोई निवर्तक नहीं होगा। ब्रह्मज्ञान माया का निवर्तक है; किन्तु ब्रह्म निर्गुण निर्विशेष एवं भेदरहित होने के कारण ज्ञान की किसी पद्धति से नहीं ज्ञान जा सकता; क्योंकि ज्ञान किसी सविशेष वस्तु का ही संभव है। अतएव माया का निवर्तक अनुपपन्न है। अद्वैत वेदान्त के समर्थकों को यह कहना है कि ब्रह्म ज्ञान सम्भव है और यही माया का निवर्तक ज्ञान है। अद्वैत वेदान्त के समर्थकों का यह कहना है कि ब्रह्म ज्ञान सम्भव है और यही माया का निवर्तक है। ब्रह्म का विषयी रुप ज्ञान सम्भव है और यही माया का निवर्तक ज्ञान है।

2.10.7 'निवृत्यानुपपत्ति'

रामानुज का कहना है कि यदि शंकर की माया भावरुप है; तो तर्कतः उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती। अद्वैत वेदान्तियों का कहना है कि माया भावरुप होते हुए भी अध्यासरुप भी है। अतएव ब्रह्म के ज्ञान से उसका निराकरण सम्भव है।

इस प्रकार शंकर के माया की अवधारणा पर रामानुज के आक्षेपों और शंकर के समर्थकों के उत्तर का निष्पक्ष मूल्यांकन करने पर यह स्पष्ट होता है कि शंकर की माया के सम्बन्ध में रामानुज का आक्षेप दृष्टि विशेष का परिणाम है। वास्तविकता यह है कि रामानुज शंकर की माया को उनके दृष्टि से समझने का प्रयास ही नहीं किये हैं; जिसके कारण ही वे उनके मायावाद की आलोचना करते है।

2.11 निष्कर्ष

निष्कर्ष रुप में कहा जा सकता है कि आचार्य शंकर ने ब्रह्म को ही पारमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म को एकमात्र सत्य सिद्ध करने के लिए ब्रह्म में माया ब्रह्म में माया शक्ति की कल्पना किया है। प्रायः सभी ईश्वरवादियों के समक्ष यह प्रमुख समस्या रही है कि यदि ईश्वर की ही अभिव्यक्ति जगत् है तो ईश्वर जगत् के दोषों से कैसे बच सकता है। यदि ईश्वर सृष्टिकर्ता है और अचेत्न प्रकृति जैसी किसी अन्य वस्तु को लेकर जगत् की रचना करते हैं, तो ईश्वर के अतिरिक्त उस दूसरी वस्तु की सत्ता को भी स्वीकार करना पड़ेगा और इस प्रकार पारमार्थिक दृष्टि से ईश्वर ही एकमात्र सर्वव्यापी सत्ता नहीं रह जायेगा और इस प्रकार ईश्वर की असीमता खण्डित हो जाती है। यदि अचेत्न तत्व के रुप में प्रकृति को सत्य मान लिया जाय और ईश्वर में आश्रित भी और इस संसार को उसका वास्तविक परिणाम माने तो ईश्वर का एक अंगमात्र है या सम्पूर्ण ईश्वर से अभिन्न है। यदि रामानुज की भाँति यह मान लिया जाय कि प्रकृति अचेतन तत्व के रूप में ईश्वर का अंश है तो यह आपत्ति आ जाती है कि ईश्वर भी भौतिक द्रव्यों की भाँति सावयव है और उन्हीं की तरह नश्वर है। यदि यह मान लिया जाय कि सम्पूर्ण प्रकृति ईश्वर से अभिन्न है तो यह बाधा उपस्थित होती है कि ऐसी स्थिति में प्राकृतिक विकास का अर्थ हो जाता है, ईश्वर का सम्पूर्ण जगत् के रुप में परिणत हो जाना। वैसी अवस्था में यह मानना पड़ेगा कि सृष्टि होने के उपरान्त कोई ईश्वर नहीं रहता। यदि ईश्वर में सचमुच विकार होता है तो वह विकार चाहे आंशिक हो या पूर्ण ईश्वर को किसी भी रुप में नित्य निर्विकार नहीं कहा जा सकता और ऐसा होने पर ईश्वर को वैसा कहा नहीं जा सकता, जिस रुप में उसे

माना जाता है। अतएव आचार्य शंकर मायावाद के द्वारा ब्रह्म एवं जगत् के सम्बन्ध की व्याख्या को लेकर उत्पन्न कठिनाई का समुचित समाधान करने का प्रयास किया है।

2.12 सारांश

आचार्य शंकर ने 'माया' की अवधारणा के द्वारा निर्गुण, निर्विशेष एवं निर्विकार ब्रह्म के स्थान पर प्रपंचात्मक जगत् एवं जीवों की अनेकता का प्रतिपादन किया है। यद्यपि आचार्य शंकर ने 'माया' और 'अविद्या' शब्द का प्रयोग एक ही अर्थ में किया है, किन्तु आचार्य शंकर ने परवर्ती अद्वैत वेदान्त के अनुनायियों ने 'माया' और 'अविद्या' में भेद किया है और 'माया' को भावात्मक इसलिए कहा जाता है कि क्योंकि माया के द्वारा ही ब्रह्म सम्पूर्ण विश्व की रचना करता है। माया विश्व को प्रस्थापित करती है। अविद्या माया के विपरीत ज्ञान के अभाव का संकेत करने के कारण निषेधात्मक है। माया अचेतन है और अपनी सत्ता के लिए ब्रह्म पर आश्रित है। माया अनादि है क्योंकि यह ब्रह्म की स्वाभाविक शक्ति और ब्रह्म के साथ यह अनादि काल से विद्यमान है। माया अनादि होने के साथ ही अनन्त नहीं है। माया अनिर्वचनीय अध्यासरूप, विज्ञान, निरस्या है। आवरण एवं विक्षेप माया की दो शक्तियाँ। माया आवरण शक्ति के कारण ब्रह्म के वास्तविक स्वरुप को ढक लेती है और विक्षेप शक्ति के कारण ब्रह्म के स्थान पर प्रपंचात्मक जगत् को प्रक्षेपित करती है। आचार्य शंकर के मायावाद का विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज खण्डन करते हैं और माया की अवधारणा को तर्कतः अनुपन्न मानते हैं। रामानुज ने शंकर की माया के खण्डन के लिए सात तर्क दिये हैं, जिसे 'सप्तानुपपत्ति' कहा जाता है। रामानुज ने जिन सप्तानुपपत्ति का उल्लेख किया है, वे आश्रयानुपपत्ति तिरोधानानुपपत्ति, स्वरुपापत्ति, अनिर्वचनीयानुपपत्ति, प्रमाणानुपपत्ति, निवर्तकानुपपत्ति एवं निवृत्यानुपपत्ति के रुप में जानी जाती हैं। परन्तु रामानुज ईश्वर एवं जगत् की व्याख्या करने में कठिनाई का अनुभव किये हैं।

2.13 बोध प्रश्न

1. आचार्य शंकर के माया की अवधारणा का समीक्षात्मक विवेचन कीजिए।
2. आचार्य शंकर किस प्रकार अपने मायावाद की अवधारणा द्वारा ब्रह्म एवं जगत् के सम्बन्ध का निरुपण करते हैं।
3. आचार्य शंकर के अनुसार जगत् ब्रह्म की लीला है— इस कथन को माया के संदर्भ में स्पष्ट कीजिए।
4. आचार्य शंकर के अनुसार मायावाद को स्पष्ट कीजिए तथा रामानुज के द्वारा उनके मायावाद के विरुद्ध उठायी गयी आपत्तियों का विवेचना कीजिए।

2.14 सहायक पुस्तकें

1. भारतीय दर्शन – चटर्जी एवं दत्त
2. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण – डॉ. संगम लाल पाण्डेय

****

इकाई–3

शंकर, रामानुज के वेदान्त दर्शन में मोक्ष की अवधारणा

संरचना

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त में मोक्ष की अवधारणा

3.3 आचार्य शंकर के अनुसार मोक्ष पारमार्थिक दृष्टि से सत् और नित्य है।

3.4 आचार्य शंकर के अनुसार मोक्ष न तो कर्म का फल है और न उपासना का फल है।

3.5 आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त में मोक्ष प्राप्ति के साधन।

3.6 श्रवण मनन और निदिध्यासन

3.7 आचार्य शंकर के अनुसार 'जीव' के मोक्ष की अवस्था

3.8 आचार्य शंकर के जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति की अवधारणा

3.9 विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज का मोक्ष विषयक विचार

3.10 रामानुज के अनुसार मोक्ष का साधन

3.11 आचार्य शंकर एवं रामानुज के मोक्ष सम्बन्धी विचार में अन्तर

3.12 निष्कर्ष

3.13 बोध प्रश्न

3.14 उपयोगी पुस्तकें

3.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई में भारतीय दर्शन में जिन चार पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) का विवेचन किया गया है। उसमें 'मोक्ष' पुरुषार्थ को मानव जीवन के चरम लक्ष्य माना गया है। जिसका यहाँ आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त और रामानुज के विशिष्टाद्वैत के अनुसार विवेचन किया जा रहा है। प्रस्तुत इकाई में आचार्य शंकर एवं रामानुज के अनुसार मोक्ष के स्वरूप मोक्ष का मानव जीवन में महत्व तथा मनुष्य का मोक्ष के प्रति आकर्षण का निरुपण करने के साथ–साथ उसकी प्राप्ति के साधनों का भी वर्णन किया जा रहा है। सम्पूर्ण भारतीय दर्शन का उद्देष्य मनुष्य को सांसारिक कष्टों से छुटकारा दिलाना है और तब तक संभव नहीं है, जब तक वह सांसारिक जीवन के बंधनों से छुटकारा न प्राप्त करें। आचार्य शंकर एवं रामानुज ने अपने वेदान्त में अज्ञान एवं अविद्या को ही मनुष्य के दुःखों का मूल

कारण माना है, किन्तु अविद्या की निवृत्ति के लिए जहाँ आचार्य शंकर ज्ञान–मार्ग को प्रस्तावित किया है, वहीं रामानुज भक्ति मार्ग को प्रस्तावित करते हैं।

3.1 प्रस्तावना

भारतीय दर्शन में भौतिकवादी चार्वाक को छोड़कर अन्य सभी भारतीय दर्शनों में मोक्ष को जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है। भौतिकवादी दर्शन होने के कारण चार्वाक आत्मा में अविश्वास करता है और सम्पूर्ण भौतिक जगत् में किसी भी तत्व की नित्य सत्ता नहीं मानता है। चार्वाक दर्शन में आत्मा की सत्ता को भी नित्य नहीं माना गया है तथा नित्य आत्मा में अविष्वास प्रकट किया गया है। चार्वाक दर्शन में जब आत्मा के अस्तित्व को ही अस्वीकार कर दिया गया है तो ऐसी स्थिति में 'मोक्ष' की प्राप्ति किसे होगी? अतएव आत्मा के खण्डन के साथ ही चार्वाक दर्शन में 'मोक्ष' का भी खण्डन हो जाता है। चार्वाक दर्शन के अतिरिक्त जितने भी भारतीय दर्शन हैं, उसमें मोक्ष को मानव के दुःखों से निवृत्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। सभी भारतीय दर्शन यद्यपि मोक्ष के स्वरूप को लेकर भिन्न–भिन्न विचार व्यक्त करते हैं किन्तु सभी ने मोक्ष की अवस्था को दुःखों से मुक्ति की अवस्था माना है। भारतीय दर्शन में मोक्ष के स्वरूप की केवल चर्चा नहीं की गयी है अपितु मोक्ष के लिए मानव जीवन में पायी जाने वाली उत्कट अभिलाषा का भी विवेचन मिलता है। इसीलिए प्रो0 मैक्समूलर भारतीय दर्शन के विषय में टिप्पणी करते हुए कहतें हैं कि– ''भारत में दर्शन ज्ञान के लिए नहीं बल्कि सर्वोच्च लक्ष्य के लिए था, जिसके लिए मनुष्य इस जीवन में प्रयत्नशील रह सकता है।''

विभिन्न भारतीय दर्शन में मोक्ष के स्वरुप का जो निरुपण हुआ है, उसमें अद्वैत वेदान्त एवं विशिष्टाद्वैत वेदान्त के मोक्ष की अवधारणा का विशेष महत्व है क्योंकि ये दोनों ही विचारधाराएँ प्रस्थानत्रयी के आधार पर विकसित होते हुए भी 'मोक्ष' के स्वरुप को लेकर परस्पर भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत करती हैं। आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त में 'मोक्ष' का अर्थ आत्मा एवं ब्रह्म का एकत्व भाव है। अद्वैत वेदान्त में यह माना गया है कि आत्मा का यथार्थ स्वरुप ब्रह्म है, किन्तु अज्ञान से प्रभावित जीव अपने को ब्रह्म से भिन्न समझने लगता है। जीव को अपने वास्तविक स्वरुप को न समझना ही उसका अज्ञान है और यही जीव के बन्धन का कारण है। इसलिए आचार्य शंकर का यह मानना है कि मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान की प्राप्ति एवं अज्ञान के निरन्तर से ही संभव है। मोक्ष को आचार्य शंकर ने आनन्द की अवस्था कहा है, क्योंकि जब आत्मा को अपने यथार्थ स्वरुप का ज्ञान हो जाता है, तब वह ब्रह्म स्वरुप होकर सच्चिदानन्द के स्वरुप को प्राप्त कर लेता है और आत्मा को अखण्ड आनन्द की चरम अनुभूति होती है। आचार्य शंकर आत्मा को स्वभावतः शुद्ध चैतन्य माना है, जिसमें आत्मा निर्विकार होने के कारण मुक्त होती है। अतएव आचार्य शंकर के अनुसार मोक्ष का अर्थ किसी नयी वस्तु की प्राप्ति नहीं है अपितु प्राप्त को ही प्राप्त करना है। वस्तुतः आचार्य शंकर के अनुसार मोक्ष का अर्थ है– आत्मा का अपने यथार्थ स्वरुप से अभिज्ञ होना। रामानुज के विशिष्टाद्वैत में मोक्ष अर्थ आत्मा एवं ब्रह्म का एकत्व नहीं है, अपितु ब्रह्म से सादृश्य प्राप्त कर लेना है। यद्यपि रामानुज यह मानते हैं कि मोक्ष दुःखाभाव की अवस्था है किन्तु मोक्ष की अवस्था में आत्मा ब्रह्म या ईश्वर के स्वरुप को प्राप्त कर उसके सानिध्य का सुख सुख प्राप्त करता है। इसलिए रामानुज का यह मानना है कि ईश्वर की कृपा के बिना 'मोक्ष' असंभव है। रामानुज के अनुसार मोक्ष भक्ति के द्वारा संभव है, जो ज्ञान और कर्म से उदय होता है। भारतीय दर्शन में मोक्ष के दो रुपों का वर्णन मिलता है।– जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति। जीवन्मुक्ति में मनुष्य जीवन के रहते हुए 'मोक्ष'

को प्राप्त कर लेता है और विदेह–मुक्ति में मनुष्य मृत्यु के उपरान्त शरीर से आत्मा का छुटकारा पाने पर मोक्ष को प्राप्त करता है। जीवन्मुक्ति को 'सशरीर–मुक्ति' भी कहा जाता है, क्योंकि इस मुक्ति में आत्मा का शरीर से सम्पर्क रहता है, किन्तु विदेह–मुक्ति में आत्मा का शरीर से सम्पर्क समाप्त हो जाता है। अद्वैत वेदान्ती आचार्य शंकर ने जीवन्मुक्ति एवं विदेह–मुक्ति दोनों को ही मान्यता प्रदान की है। रामानुज के अनुसार 'मोक्ष' की प्राप्ति मृत्यु के उपरान्त ही संभव है, क्योंकि जब तक शरीर विद्यमान है, तब तक जीव मुक्त नहीं हो सकता।

3.2 आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त में मोक्ष की अवधारणा

आचार्य शंकर ने अपने अद्वैत वेदान्त में 'मोक्ष' को आत्मा या ब्रह्म के स्वरुप की अनुभूति माना है। आत्मा या ब्रह्म नित्य शुद्ध चैतन्य एवं अखण्ड आनन्द स्वरुप है। आत्मा ज्ञान स्वरुप है और मोक्ष आत्मा का स्वरुप ज्ञान है। आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म एवं मोक्ष एक ही हैं, क्योंकि मोक्ष की अवस्था आत्मा या ब्रह्म के स्वरुप से अभिज्ञ होना है। आचार्य शंकर कहते हैं कि जो ब्रह्म को जानता है, वह स्वयं ब्रह्म हो जाता है– 'ब्रह्मवेद ब्रह्मवैद भवति'। आचार्य शंकर का यह मानना है कि ब्रह्म ज्ञान और ब्रह्म भाव एक है। आचार्य शंकर का यह स्पष्ट अभिमत है कि वस्तुतः 'जीव' ब्रह्म होता या बनता नहीं है, ब्रह्म ज्ञान में कोई क्रिया नहीं है, क्योंकि 'जीव' मूल रुप से ब्रह्म ही है। आचार्य शंकर के मोक्ष सम्बन्धी विचार का मूलाधार उनका अद्वैतवादी दृष्टिकोण है। उनका यह मानना है कि 'जीव' का जीवत्व अविद्याजन्य है। अविद्या के कारण 'जीव' देहान्द्रियान्तःकरणादि से तादात्म्य कर लेता है और अहंकार–ममकार युक्त होकर स्वयं को शुभाषुभ कर्मों का कर्त्ता, सुख–दुःख रुपी कर्म फूल का भोक्ता मानकर जन्म मरण चक्र में संसरण करता है। यही 'जीव' का बन्धन है। जब आत्मज्ञान द्वारा अविद्या की निवृत्ति हो जाती है, तो 'जीव' नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त ब्रह्म भाव को प्राप्त कर लेता है। यह 'जीव' की बंधन से मुक्ति है। परन्तु ब्रहमात्मैक्य के त्रिकाल सिद्ध और नित्य होने के कारण जीव न तो बन्धन होता है और न ही मोक्ष। वास्तविकता यह है कि केवल 'जीव' को अविद्या से ही मुक्ति मिलती है, अविद्या का ही निरसन होता है। अविद्या भ्रान्ति है, अतएव अविद्या का आवागमन उसकी प्रवृत्ति एवं निवृत्ति दोनों भ्रान्ति रुप है। बन्धन एवं 'मोक्ष' दोनों ही व्यावहारिक है, इसलिए पारमार्थिक दृष्टि से दोनों ही मिथ्या है। यही कारण है कि आचार्य शंकर ब्रह्म साक्षात्कार, अविद्या–निवृत्ति, प्रपंच्च विलय और मोक्ष प्राप्ति ये सब एक हैं। आचार्य शंकर के अनुसार अविद्या–निवृत्ति और ब्रह्मभाव या मोक्ष में कार्यान्तर नहीं है। आत्मज्ञान मोक्ष को फल या कार्य के रुप में उत्पन्न नहीं करता। 'मोक्ष' प्रतिबन्ध रुप अविद्या की निवृत्तिमात्र ही आत्मज्ञान ब्रह्म का प्रकाशक या ज्ञापक होता है, कारक नहीं क्योंकि ज्ञान क्रिया नहीं है। अतएव ज्ञान का फल अज्ञान की निवृत्ति मात्र है जो ज्ञान के प्रकाश से स्वतः हो जाती है, जैसे प्रकाश से अंधकार की निवृत्ति होती है। मोक्ष नित्य सच्चिदानन्द स्वरुप ब्रह्म या आत्मा की अपरोक्षानुभूति है। मोक्ष किसी अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति नहीं है, मोक्ष आत्मभाव है, जो सदा प्राप्त है। शंकर ने मोक्ष के तीन लक्षण बतलायें हैं।

1. 'अविद्यानिवृत्तिरेव मोक्षः अर्थात मोक्ष अविद्या निवृत्ति है।
2. ब्रह्मभावष्च्च मोक्षः अर्थात ब्रह्मभाव या ब्रह्म साक्षात्कार मोक्ष है।
3. नित्यमशरीरत्वं मोक्षः अर्थात मोक्ष नित्य अशरीरत्व है।

आचार्य शंकर ने 'मोक्ष' में जिन तीन लक्षणों को सम्मिलित किया है, उसमें इस बात का वर्णन किया जा चुका है कि 'मोक्ष' अविद्यानिवृत्ति और ब्रह्माभाव की अवस्था है। परन्तु 'मोक्ष' का एक और लक्षण बताया गया है, जिसमें यह कहा गया है कि मोक्ष नित्य अषरीरत्व है। इस लक्षण के द्वारा आचार्य शंकर यह बताने का प्रयास किये हैं कि 'मोक्ष' स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण इन तीनों प्रकार के शरीरों के सम्बन्ध से अत्यन्त रहित नित्य आत्म स्वरुप का अनुभव है। यहाँ आचार्य शंकर के द्वारा 'अषरीर' का अर्थ शरीर रहित होना नहीं है अपितु शरीर सम्बन्ध रहित होना है। यही कारण है कि आचार्य शंकर 'जीवन्मुक्ति' का साग्रह प्रतिपादन करते हैं।

3.3 आचार्य शंकर के अनुसार मोक्ष पारमार्थिक दृष्टि से सत् एवं नित्य है

आचार्य शंकर के अनुसार मोक्ष परमार्थतः सत् है, कूटस्थ नित्य है आकाष के समान सर्वव्यापी है, सब प्रकार के विकार से रहित है, नित्य वृत्त है, निरवयव है, स्वयं ज्योति स्वभाव है यह धर्म और अधर्म नामक कर्मों से तथा (सुख–दुःख रुपी) उनके कार्यो से मोक्ष का स्वरूप अवर्णनीय है और कालत्रयातीत है। यह मोक्ष की अशरीरत्व अवस्था है। आचार्य शंकर का यह मानना है कि मोक्ष पारमार्थिक दृष्टि से सत् है, क्योंकि 'बन्धन' और 'मोक्ष' अविद्याकृत होने के कारण सापेक्ष और मिथ्या हैं, किन्तु परब्रह्म या परमात्मातत्व के रुप में मोक्ष पारमार्थिक सत् है। वास्तविकता यह है कि आचार्य शंकर को बन्धन सापेक्ष मोक्ष अभिप्रेत नहीं है। आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म ही 'मोक्ष' अर्थात नित्य मुक्त परमार्थ है। यह कूटस्थ नित्य है क्योंकि इसमें किसी प्रकार का परिवर्तन, परिणाम या विकार संभव नहीं है। मोक्ष आप्तकाम और नित्य अखण्ड आनन्द की अवस्था है। यह ज्ञाता ज्ञेय–ज्ञान की त्रिपुटी से परे की अवस्था है। मोक्ष का ज्ञान और आनन्द स्वसंवेद्य नहीं है, अपितु यह स्वयं शुद्ध चैतन्य और आनन्द है। यह अद्वैत, निरवय और अखण्ड है। यह स्वयंज्योति, स्वप्रकाश एवं स्वयंसिद्ध है। यह त्रिकालातीत होने के कारण अविद्या कर्म (धर्म और अधर्म) फल (सुख तथा दुःख) और शरीरेन्द्रियविषयादि से सर्वथा अस्पृष्ट है। यह लौकिक सुख–दुःख से अतीत है। यह अशरीर आत्मा है। आत्मा और शरीर का सम्बन्ध अविद्याजन्य है। यह शरीराध्यास के कारण है, मिथ्याज्ञाननिमित्त है। अतः अविद्या निवृत्ति होने पर शरीराध्यास भी निवृत्त हो जाता है तथा शरीर के रहने पर भी अशरीर सम्बन्ध की अत्यन्तिक निवृत्ति के कारण अशरीरतत्व सिद्ध होता है एवं जीवन्मुक्ति सिद्ध होती है। इसीलिए मोक्ष को स्वातंत्रय, स्वराज्य, अभयपद तथा परम पुरुषार्थ कहा जाता है।

3.4 आचार्य शंकर के अनुसार 'मोक्ष' न तो कर्म का फल है और न ही उपासना का फल है

आचार्य शंकर यह मानना है कि यदि 'मोक्ष' को कार्य या फल के रुप में स्वीकार किया जाए तो यह निश्चित रुप से अनित्य होगा। इसलिए आचार्य शंकर मोक्ष को नित्य आनन्द मानते हैं और इसे लौकिक तथा पारलौकिक सुखों से भिन्न तथा अत्यन्त उत्कृष्ट मानते हैं। आचार्य शंकर का यह मानना है कि लौकिक एवं स्वर्गिक सुख कर्मजन्य हैं, वे सत्कर्म या धर्म की पुण्य नामक शक्ति से उत्पन्न होते हैं तथा पुण्य के समाप्त हो जाने पर वे सुख भी समाप्त हो जाते हैं। आचार्य शंकर का यह कहना है कि स्वर्गिक सुख भले ही चिरस्थायी हों किन्तु वे विनाशशील और अनित्य हैं यदि मोक्ष को कर्म या उपासना द्वारा उत्पन्न माना जाये तो वह

निश्चित ही नश्वर और अनित्य होगा भले ही उसे लौकिक या स्वर्गिक सुखों से अधिक चिरस्थायी और श्रेष्ठ माना जाय। पुनश्च मोक्ष को ब्रह्मज्ञान द्वारा उत्पन्न फल भी नहीं स्वीकार किया जा सकता। प्रथम कार्य होने से 'मोक्ष' अनित्य होगा और द्वितीय ज्ञान प्रकाशक होता है, कारक नहीं। ब्रह्मज्ञान केवल मोक्ष प्रतिबन्धभूत अविद्या को निवृत्त करता है, मोक्ष को उत्पन्न नहीं करता। वास्तविकता यह है कि ब्रह्मज्ञान, अविद्या–निवृत्त और मोक्ष एक ही है और एक साथ होते हैं एवं उनमें कार्यान्तर नहीं होता है। आचार्य शंकर का यह कहना है कि उपासना या ध्यान के समान शुद्ध ज्ञान मानसी क्रिया नहीं है। यह अपरोक्षानुभूति है, क्योंकि अद्वैता वेदान्त स्वप्रकाश ब्रह्म को अविषय बताते हुए अविद्या कल्पित वेदक वेद्य–वेदना की त्रिपुटी से परे स्वानुभूतिगम्य बताता है। आत्म ज्ञान का फल मोक्ष प्रतिबन्धभूत अविद्या की निवृत्तिमात्र है।

3.5 आचार्य शंकर के अद्वैत वेदान्त में मोक्ष प्राप्ति के साधन

आचार्य शंकर ने 'मोक्ष' के स्वरुप का विवेचन करने के साथ–साथ मोक्ष की प्राप्ति के लिए मुमुक्ष को किस प्रकार का आचरण करना होगा, इस प्रश्न पर भी विचार किया है। आचार्य शंकर का यह मानना है कि यद्यपि ज्ञान के द्वारा अनादि अविद्या से आबद्ध जीव को अविद्याजन्य संस्कारों से मुक्त होने में सहायता मिलती है किन्तु यदि साधना से चित्त निर्मल न किया जाए तो केवल वेदान्त में बताये गये सत्य मात्र से 'मोक्ष' की प्राप्ति संभव नहीं हो सकती है तथा सम्पूर्ण वेदान्त की शिक्षा ही निष्फल हो सकती है। इसलिए आचार्य शंकर का कहना है कि वेदान्त अधिकारी हुए बिना कोई भी मनुष्य आत्म साक्षात्कार नहीं कर सकता। आचार्य शंकर वेदान्त अधिकारी होने के लिए मनुष्य के द्वारा साधन–चतुष्टय को अपने जीवन में अपनाने की आवश्यकता पर बल दिया है। वेदान्त को ज्ञान के इन चार साधनों को अपनाने के पश्चात् आत्मसाक्षात्कार हो सकता है। आचार्य शंकर ने जिन 'साधन–चतुष्टय' का उल्लेख किया है, वे इस प्रकार हैं–

(i) 'नित्यानित्य–वस्तुविवेक' के द्वारा आचार्य शंकर यह स्पष्ट करते हैं की साधक को पहले नित्य (आत्मा) और अनित्य (नष्वर सांसारिक वस्तुओं के भेद) पदार्थो की विवेचना करनी चाहिए और उनके बीच के भेद को समझना चाहिए।

(ii) 'इहामुत्रार्थ फलभोग–विराग' के द्वार आचार्य शंकर का स्पष्ट करते हैं कि साधक को लौकि एवं परालौकिक सफल भागों की कामना का परित्याग करके अपने कर्मो का सम्पादन करना चाहिए।

(iii) 'शमदमादिष्ट्सम्पति' के द्वारा आचार्य शंकर यह स्पष्ट करते हैं कि ज्ञान प्राप्ति के लिए साधक को 'शम' अर्थात मानसिक संयम 'दम' अर्थात इन्द्रिय–निग्रह 'श्रद्धा' अर्थात वेदों एवं गुरुओं के प्रति अटूट निष्ठा समाधान अर्थात चित्त को ज्ञान के साधनों में लगाना उपरित अर्थात मनोवृत्तियों का बर्हिर्मुखी न होना तथा दुष्ट कर्मो से सदा दूर रहना। दूसरे शब्दों में विक्षोपकारी कार्यों से विरत होने को उपरति कहते हैं। 'तितिक्षा' अर्थात सर्दी एवं गर्मी को सहन करने का अभ्यास करना चाहिए।

(iv) 'मुमुक्षत्व' अर्थात साधक को 'मोक्ष' प्राप्ति के लिए दृढ़ संकल्प होना चाहिए।

(v) आचार्य शंकर का यह मानना है कि उपर्युक्त चार साधनों से युक्त होने पर ही कोई भी साधक वेदान्त का अधिकारी बनता है।

3.6 श्रवण–मनन और निदिध्यासन

आचार्य शंकर का यह मानना है कि 'साधन–चतुष्ट्य' के द्वारा वह इन्द्रिय, मन तथा वासनाओं पर विजय प्राप्त कर लेने वाले वेदान्त के साधक को यह चाहिए की वह ऐसे गुरु से षिक्षा ग्रहण करें जो स्वयं साधन चतुष्टय को साधित कर चुका हों अतएव शंकराचार्य का कहना है कि मोक्ष की इच्छा रखने वाले साधक (मुमुक्षत्व) के लिए यह आवष्यक है कि वह श्रवण–मनन और निदिध्यासन के द्वारा ब्रह्भाव के साक्षात्कार के लिए प्रयत्न करें। आचार्य शंकर के अनुसार श्रवण का अर्थ है गुरु के उपदेश को श्रद्धापूर्वक सुनना। 'मनन' का अर्थ है–गुरु के उपदेशों पर युक्तिपूर्वक विचार करना और निदिध्यासन' का अर्थ है, गुरु उपदिृष्ट सत्य पर निरन्तर ध्यान करना। इस प्रकार आचार्य शंकर का यह मानना है कि श्रवण मनन एवं निदिध्यासन के द्वारा वेदान्त के अधिकारी साधक में ब्रह्मज्ञान की स्थिति पैदा होती है उसके सारे अज्ञान का क्षय हो जाता है और वह 'अहंब्रह्स्मि' के बोध से युक्त हो जाता है। यह स्थिति ब्रह्म एवं आत्मा के पूर्ण तादात्म्य की स्थिति होती है।

3.7 आचार्य शंकर के अनुसार जीव के मोक्ष की अवस्था

आचार्य शंकर का यह मानना है कि पूर्व के संचित संस्कार इतने प्रबल होते है कि मोक्ष की प्राप्ति के पश्चात् भी वेदान्त के अधिकारी साधक को ब्रह्मविद्या के अनुशीलन तथा तदनुकूल आचरण के अभ्यास से ही क्रमशः उन संस्कारों का भी क्षय हो जाता है जो आत्मा और ब्रह्म के अभेद की अवस्था का सदा अपरोक्षानुभूति कराते हैं। यह अवस्था मुमुक्ष के 'तत्वमसि' के रुप में गुरु से प्राप्त उपदेश का एकाग्र चित्त से सत्य की अनुभूति की अवस्था होती है और अन्ततः मुमुक्ष आत्म साक्षात्कार करके 'अहं ब्रह्माास्मि' (अर्थात में ब्रह्म हूँ) की चेतना से युक्त हो जाता है। इस अवस्था में जीव और ब्रह्म का मिथ्या भेद पूर्णतया समाप्त हो जाता है और उसे सांसारिक बन्धनों से भी पूर्णतया मुक्ति मिल जाती है तथा 'मोक्ष' का साक्षात् अनुभव होता है।

3.8 आचार्य शंकर की जीवन्मुक्ति और विदेह मुक्ति की अवधारणा

आचार्य शंकर मोक्ष के दो रुपों में स्वीकार करते हैं जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति। आचार्य शंकर का यह मानना है कि मोक्ष के बाद भी शरीर रह सकता है, क्योंकि यह प्रारब्ध कर्मो का फल है किन्तु 'मोक्ष' को प्राप्त मुक्तात्मा कभी उसके सामने रहता है, किन्तु वह उससे ठगा नहीं जाता। सासांरिक विषयों के हेतु से उसे तृष्णा नहीं होती। अतएव उसे किसी प्रकार का दुःख नहीं होता है। वह संसार में रहते हुए भी उससे निर्लिप्त रहता है। शंकर यह विचार परवर्ती वेदान्त साहित्य में 'जीवन्मुक्ति' के नाम से विख्यात है। जीवन्मुक्ति का अर्थ है जीवन रहते हुए मुक्ति पा जाना। इस प्रकार आचार्य शंकर का यह दिखलाते हैं कि जब मुक्तात्मा को तत्वज्ञान होने पर उसके संचित कर्म का क्षय तथा क्रियमाण कर्म का निवारण हो जाता है तो वह पुर्नजन्म से छुटकारा पा जाती है किन्तु प्रारब्ध कर्म का

निवारण नहीं हो पाता है। उसका प्रारब्ध भोग करने के लिए यह शरीर (जो प्रारब्ध का फल है) रह जाता है और जब प्रारब्ध की शक्ति समाप्त हो जाती है, तब उसका भी अन्त हो जाता है। आचार्य शंकर का यह मानना है कि जब स्थूल एवं सूक्ष्म शरीर का अन्त हो जाता है तो मोक्ष की अवस्था होती है, उसे विदेह मुक्ति कहते हैं। इस प्रकार आचार्य शंकर का यह स्पष्ट अभिमत है कि आध्यात्मिक साधना के फलस्वरुप जब मनुष्य संसार में रहते हुए इसी जीवन में ब्रहमज्ञान प्राप्त करके समस्त सांसारिक बन्धनों से मुक्त हो जाता है तो इस मुक्तावस्था को शंकर के परवर्ती अद्वैतवेदान्ती 'जीवन्मुक्ति' की संज्ञा देते हैं। इस अवस्था में मनुष्य सांसारिक कर्म करते हुए उसमें आसक्त न होने के कारण उनके प्रभाव से पूर्णतया मुक्त हो जाता है। जीवन्मुक्ति मनुष्य अपने समस्त कर्मों को लोक संग्रह या लोककल्याण के लिए करता है। परन्तु जीवन्मुक्ति को शंकर मोक्ष का प्रथम सोपान मानते हैं उसकी अन्तिम अवस्था नहीं। वस्तुतः शंकर के अनुसार मोक्ष की अन्तिम अवस्था 'विदेह–मुक्ति' है। इस विदेह मुक्ति के स्वरुप को स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है कि – संचित, प्रारब्ध एवं संचीयमान, इन सभी प्रकार के कर्मों और स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर का अन्त हो जाने पर जब मुक्तात्मा जन्म–मरण के सांसारिक चक्र से मुक्त होकर सच्चिदानन्द अविनाषी ब्रह्म के एकाकार हो जाता है, तो इस अवस्था को विदेहमुक्ति कहा जाता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि शंकर की मोक्ष विषयक अवधारणा कहाँ तक प्रासंगिक है? इस प्रश्न के उत्तर में कुछ आलोचकों का यह कहना है कि यद्यपि शंकर के द्वारा मुक्तावस्था को विशुद्ध चैतन्यस्वरुप तथा अखण्ड आनन्द से परिपूर्ण अवस्था मानना बड़ा ही आकर्षक लगता है, किन्तु मोक्ष की अवस्था में आत्मा का ब्रह्म से एकाकार हो जाना उचित नहीं प्रतीत होता है। आचार्य शंकर ने मोक्ष के स्वरुप को जिस रुप में निरुपित किया है उसमें आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व का ही लोप हो जाता है। ऐसी मुक्तावस्था मृत्यु से भिन्न नहीं होगी। अतएव कोई भी व्यक्ति इस प्रकार के मोक्ष को अपने जीवन का आदर्ष नहीं बन सकता। परन्तु वास्तुविकता यह है कि इस प्रकार का आक्षेप वे ही लोग मानते हैं जो आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व के समर्थक हैं। शंकर आत्मा को ब्रह्म से भिन्न नहीं मानते हैं। उनका उद्देष्य ही रहा है। कि जीव को जन्म मरण के चक्र से मुक्ति दिलायी जाए। यह मुक्ति बिना जन्म–मरण के प्रवाह के रुके संभव नहीं है। यही कारण है कि शंकर के मोक्ष की अवधारणा भारतीय मनीषियों के लिए आकर्षण का विषय रही है और रहेगी।

3.9 विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज का मोक्ष विषयक विचार

शंकर की ही शांति विशिष्टाद्वैतवादी रामानुज भी 'मोक्ष' को मानव जीवन का परमलक्ष्य मानते हैं। रामानुज भी यह स्वीकार करते हैं कि अविद्या ही आत्मा या जीव के समस्त बन्धनों एवं दुःखों का मूल कारण है। इसी अविद्या के कारण जीव में अहंकार उत्पन्न होता है; जो उसे जन्म मरण के सांसारिक चक्र में आबद्ध कर देता है। सभी प्रकार के कर्मो तथा अविद्या के विनाश के द्वारा ही जन्म मरण के इस चक्र और समस्त सांसारिक बन्धनों तथा दुःखों से मुक्ति संभव है।

रामानुज के अनुसार बन्धन से छुटकारा पाने का नाम ही मोक्ष है। मोक्ष अप्राप्त की प्राप्ति है। रामानुज के अनुसार मोक्ष प्राप्त होने पर मुक्तात्मा ईश्वर के स्वरुप को प्राप्त करता है; यद्यपि वह उसकी तद्रूपता को नहीं प्राप्त करता है। मुक्तात्मा ब्रह्मभाव को तो प्राप्त होता है; किन्तु उसका पृथक व्यक्तित्व बना रहता है। उसका व्यक्तित्व ब्रह्म में विलीन नहीं होता। रामानुज के अनुसार मुक्ति का

अर्थ जीवात्मा का शुद्ध निर्मल ज्ञान से युक्त होना तथा दोषरहित होकर ब्रह्म सदृष होना है। जीव मोक्ष की अवस्था में ब्रह्म सायुज्य लाभ करता है; सारुप्य लाभ नहीं जैसा कि अद्वैत वेदान्त में स्वीकार किया गया है।

रामानुज का यह मानना है कि मुक्ति वर्तमान देहपात के अनन्तर ही संभव हैं। यही कारण है कि रामानुज वेदान्त के सद्वन्मुक्ति को अस्वीकार कर देते हैं और क्रम मुक्ति को मानते हैं। उनका कहना है कि मरने के बाद पुण्यात्मा जीव देवयान मार्ग से ब्रह्म लोक को प्रयाण करता है और वहाँ वह बैकुण्ठ धाम में प्रवेश करता है और भगवान की नित्य लीला में भागीदार होकर ज्ञान तथा आनन्द प्राप्त करता है।

रामानुज का यह भी मानना है कि मुक्ति सभी कर्मों के क्षीण हो जाने पर तथा भौतिक शरीर के पात के अनन्तर ही संभव है। यह विदेह मुक्ति की अवस्था है। रामानुज के अनुसार विदेह मुक्ति में भी जीव यद्यपि दोष युक्त प्राकृतिक शरीर से मुक्त हो जाता है; वह एक निर्दोष शरीर को धारण करता है जो शुद्ध सत्व से निर्मित है।

रामानुज मुक्तात्माओं को दो वर्ग रखते हैं नित्य मुक्त एवं मुक्त। नित्य आत्माएं वे आत्माएं है जो कभी बन्धन में नहीं आती। मुक्तात्मा वे हैं जो कभी बन्धन में थे; किन्तु अब उनका बन्धन समाप्त हो चुका है। इसमें मुक्तात्मा को स्वराट् कहा जाता है।

परन्तु रामानुज के सम्मुख भी यह प्रमुख समस्या थी कि जीव को बन्धन में डालने वाली अविद्या का नाश कैसे हो? रामानुज अविद्या का विनाश के लिए 'भक्ति' को मोक्ष का प्रमुख साधन बतलाते हैं। रामानुज का मानना है कि शंकर का ज्ञानमार्ग जन सामान्य के लिए बड़ा ही दुर्बोध है। ऐसी स्थिति में भक्ति मार्ग एक ऐसा मार्ग है; जिसके द्वारा जनसामान्य भी इस भवसागर से त्राण् पा सकते हैं। रामानुज का मानना है कि भक्ति के अंग रुप में कर्मयोग, ज्ञानयोग एवं ध्यानयोग हैं। कर्मयोग से सत्वशुद्धि होती है। सत्वशुद्धि से ज्ञानयोग होता है और ज्ञानयोग के बाद भक्ति का उदय होता है। भक्ति ईश्वर के प्रति अनुरक्ति है। वह साधनसप्तक से लभ्य है। ये साधन हैं– विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अनवसाद, तथा अनुद्धर्ष। कार्यशुद्धि विवके है। काम–क्रोधादि से मुक्त होना विमोक है। अन्तर्यामी का सतत् ध्यान करना अभ्यास है। कर्त्यव्य पालन करना क्रिया है। सत्य, दान और अहिंसा का पालन करना कल्याण है। दुःख से रहित होना 'अनवसाद' है। असन्तोष एवं अतिसंतोष के मध्य की वृत्ति रखना अनुद्धर्ष है। इन साधनों से सम्पन्न जीव भगवान का नित्य ध्यान करता है और ईश्वर के कृपा का पात्र होता है।

3.10 रामानुज के अनुसार मोक्ष का साधन

रामानुज का मानना है कि मुक्ति ईश्वर की कृपा से संभव है। अतएव जीव ईश्वर के प्रति पूर्ण प्रेममय आत्म सम्पूर्ण के द्वारा उनकी कृपा का पात्र हो सकता है। आराध्य ईश्वर के प्रति इसी पूर्ण शरणागति स्थिति के 'प्रपत्ति' की संज्ञा दी जाती है। प्रपत्ति के छः अंग हैं– (1) 'अनुकूल्य संकल्प' ईश्वरेच्छा का पालन है। (2) 'प्रतिकूल्य वर्जन' ईश्वर को जो अप्रिय है; उसका त्याग है। (3) भगवान के अनुग्रह में अटूट विश्वास रखना 'महाविश्वास' है। (4) कार्यण्य का अर्थ है– ज्ञान, कर्म एवं भक्ति करने की असमर्थता का भावोदय। (5) 'गोप्तत्व'–वरण' भगवान को पाना या तारक के रुप में वरण करना तथा (6)'आत्ममिक्षेप' का अर्थ है भगवान के प्रति आत्मसमर्पण।

परन्तु रामानुज का मानना है कि भक्ति का यह रुप निष्काम होना चाहिए। निष्काम भक्ति एवं प्रपत्ति द्वारा प्रसन्न होकर ईश्वर जीव के समस्त क्लेशों एवं बन्धनों का नाष करता है तथा ईश्वर की कृपा के फलस्वरुप उसे मोक्ष प्राप्त होता है। यही कारण है कि रामानुज कहते हैं कि ईश्वर की भक्ति के लिए 'दास्यभाव' अनिवार्य हैं अर्थात भक्त को अपने को ईश्वर का दास मानकर ही उसकी भक्ति को करना चाहिए।

3.11 आचार्य शंकर एवं रामानुज के मोक्ष सम्बन्धी विचार में अन्तर

'मोक्ष' के स्वरुप को लेकर शंकर एवं रामानुज परस्पर भिन्न–भिन्न विचारों का प्रतिपादन करते हैं। शंकर का यह मानना है कि 'मोक्ष' की प्राप्ति में ब्रह्म के साथ मुक्तात्मा का पूर्ण तादात्म्य या पूर्ण अभेद हो जाता है किन्तु शंकर के मत को रामानुज अस्वीकार करते हुए कहते हैं कि – ''मोक्ष प्राप्ति के बाद जीव ईश्वर के स्वरुप एवं गुणों को प्राप्त करके उसके समान हो जाता है, परन्तु उसका ईश्वर या ब्रह्म के साथ तादात्म्य नहीं होता। वह ईश्वर के गुणों से युक्त होकर उसके सदृश हो जाता है। आचार्य शंकर विदेह–मुक्ति और जीवन्मुक्ति दोनों को ही अपने दर्शन में मान्यता प्रदान करते हैं। तथा जीवन्मुक्ति को मोक्ष का प्रथम सोपान मानते हैं, जबकि रामानुज अपने विशिष्टाद्वैतवाद में 'विदेह–मुक्ति' को ही मान्यता प्रदान करते हैं। रामानुज एवं उनके समर्थक वैष्णव दार्शनिकों का यह मानना है कि मोक्ष प्राप्ति के फलस्वरुप जीव के समस्त बन्धनों एवं क्लेषों का आत्यान्तिक क्षय हो जाता है और वह सदैव ईश्वर के सान्निध्य का महान आनन्द प्राप्त करता है। इसे ही वैष्णव दर्शन में 'सांयुज्य–मुक्ति' कहा जाता है।

परन्तु रामानुज के विशिष्टाद्वैत में भी वर्णित मोक्ष में मृत्यु अनिवार्य है। मोक्ष विषयक यह संकल्पना मनुष्य को उसके वर्तमान जीवन में दुःख से निवृत्ति का कोई आष्वासन नहीं देती है। ऐसी स्थिति में मोक्ष की यह संकल्पना भी मानव जीवन का उच्चतम आदर्ष नहीं बन सकती। परन्तु इस प्रकार का आक्षेप लगाने वाले वही लोग हैं जिन्होंने जीवन की गहराईयों में उतर कर नहीं झाँका है। वास्तविकता यह है कि समकाल में भारत में ही नहीं अपितु पाश्चात्य जनमानस में भी मानवीय जीवन क्लेषों से त्राण का एक मात्र मार्ग आध्यात्मिक तृप्ति में ही दिखलायी पड़ रहा है। ऐसी स्थिति में कोई भी ऐसा तत्वज्ञानी नहीं होगा जो जन्म मरण के अत्यन्त दुःखदायी प्रवाह से मुक्ति नहीं प्राप्त करना चाहेगा।

आचार्य शंकर सद्यःमुक्ति का प्रतिपादन करते हैं और क्रममुक्ति को अस्वीकार करते हैं। आचार्य शंकर का मानना है कि ज्ञान होते ही मुक्ति 'सद्यःमुक्ति' है। सद्यःमुक्ति के विपरीत क्रममुक्ति शनैः–शनैः प्राप्त होती है। आचार्य शंकर के विपरीत रामानुज क्रममुक्ति में विष्वास करते हैं। 'क्रममुक्ति' में जीव देवयान मार्ग से ब्रह्म तक पहुँचने में अनेक आर्य स्थान से गुजरता है और तब वह अन्तिम सोपान तक पहुँचता है। क्रममुक्ति केवल प्रलयपर्यन्त तक रहती है। यह सापेक्षिक मुक्ति है। वास्तव में यह यथार्थ मुक्ति नहीं है, बल्कि एक प्रकार से मुक्ति तक पहुँचने का एक लम्बा पड़ाव है। वास्तविक मुक्ति 'सद्यःमुक्ति' है जो ज्ञानोदय के साथ हो जाती है। सद्यःमुक्ति प्राप्त जीवात्मा पुनः भवचक्र में नहीं पड़ता है।

3.12 निष्कर्ष

निष्कर्ष रुप में कहा जा सकता है कि आचार्य शंकर अद्वैत वेदान्त एवं रामानुज के विशिष्टाद्वैत वेदान्त में मानव जीवन के चरम लक्ष्य के रुप में 'मोक्ष' को मान्यता प्रदान किया गया है। आचार्य शंकर एवं रामानुज दोनों ही यह स्वीकार करते हैं कि सांसारिक विषय परस्पर विरोधी और अनित्य होने के कारण चरम सत्य और परमार्थ नहीं समझे जा सकते हैं। उनका वास्तविक तत्व वह परमार्थ है जिसके अनुरुप हमें अपने जीवन को बनाना है। वेदान्त जिस नैतिक और आध्यात्मिक साधनों को मानव जीवन में अपनाने को बल देता है, उसका लक्षण है– आत्मदर्शन या ब्रह्म साक्षात्कार अर्थात सब विषयों में ब्रह्म की सत्ता को देखना। सभी जीव एक हैं, सभी भूतों में एक ही आत्मा या सत्ता है, अद्वैत वेदान्त के ये आदर्श मानव जीवन के लिए एकता का संदेश देते हैं तथा उसे सद्‌गुणों के विकास के लिए सदैव प्रेरित करते हैं। वास्तविकता यह है कि यद्यपि शंकर एवं रामानुज के वेदान्त में मोक्ष के स्वरुप और उसकी प्राप्ति के साधनों को लेकर मतभेद है, किन्तु दोनों ही इस बात को लेकर एकमत हैं कि मोक्ष की अवस्था में जीवन–मरण का वह प्रवाह रुक जाता है, जो जीव को प्रपंचात्मक जगत् में लिप्त रखता है तथा उसे बन्धनग्रस्त बनाता है। अतएव यह कहा जा सकता है कि मोक्षावस्था एक ऐसी अवस्था है, जिसमें जीव अखण्ड आनन्द का लाभ उठाता है, मनुष्य के लिए मूल्यवान आदर्श है तथा स्वागत योग्य है।

3.13 बोध प्रश्न

1. आचार्य शंकर के मोक्ष विषयक अवधारणा का विवेचन कीजिए।
2. आचार्य रामानुज के मोक्ष विषय अवधारणा का विवेचन कीजिए।
3. आचार्य शंकर एवं रामानुज के मोक्ष विषयक अवधारणा का तुलनात्मक विवेचन कीजिए।
4. आचार्य शंकर एवं रामानुज के अनुसार मोक्ष के स्वरुप तथा उसके प्राप्ति के साधनों का विवेचन कीजिए।

3.14 उपयोगी पुस्तकें

1. भारतीय दर्शन – चटर्जी एवं दत्त
2. भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण – डॉ. संगम लाल पाण्डेय

****

इकाई–4

क्या शंकर को प्रच्छन्न बुद्ध कहना उचित है

संरचना

4.0. उद्देश्य

4.1. प्रस्तावना

4.2. शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहने वाले मीमांसक शालिकनाथ का मत

4.3. शंकराचार्य के प्रच्छन्न बौद्ध के पक्ष में भेदाभेदवादी भास्कर का मत

4.4. शंकराचार्य के प्रच्छन्न बौद्ध के पक्ष में नैयायिक और ईश्वरवादी उदयनाचार्य का मत

4.5. शंकराचार्य के प्रच्छन्न बौद्ध के पक्ष में वैष्णव आचार्य रामानुज का मत

4.6. शंकराचार्य के प्रच्छन्न बुद्ध के पक्ष में पद्मपुराण का मत

4.7. शंकराचार्य के प्रच्छन्न बौद्ध के पक्ष में मध्वाचार्य का मत

4.8. शंकराचार्य के प्रच्छन्न बौद्ध के पक्ष में केशव काश्मीरी का मत

4.9. शंकराचार्य के प्रच्छन्न बौद्ध के पक्ष में वल्लभाचार्य का मत

4.10. शंकराचार्य के प्रच्छन्न बौद्ध के पक्ष में विज्ञानभिक्षु का मत

4.11. शंकराचार्य के प्रच्छन्न बौद्ध के विपक्ष में पद्मपाद का मत

4.12. नवीं शती, में वाचस्पति मिश्र

4.13. दसवीं शती में सर्वज्ञात्म मुनि

4.14. ग्यारहवी शती में आनन्दबोध

4.15. बारहवीं शती में श्री हर्ष

4.16. तेरहवीं शती में प्रकाशात्मा

4.17. चौदहवीं शती में विद्यारण्य

4.18. सोलहवीं शती में अप्पयदीक्षित

4.19. उन्नीसवीं शती में निश्चलदास

4.20. शंकराचार्य प्रच्छन्न बौद्ध है या नहीं

4.21. बौद्धों में कुछ सिद्धांत को मान्यता

4.22. निष्कर्ष

4.0. उद्देश्य

शंकराचार्य को कुछ लोगों ने प्रच्छन्न बौद्ध कहा है। शंकराचार्य पर इस प्रकार आरोप लगाने वाले न तो अद्वैत वेदान्त के समर्थक हैं और न ही बौद्ध मत के समर्थक हैं जब स्वयं बौद्ध ऐसा कुछ नहीं कहते और वे अपने दर्शन को अद्वैतवाद से भिन्न करते हैं तथा अद्वैतवादी शंकराचार्य अपने दर्शन को बौद्ध दर्शन से पृथक करते हैं, तो स्पष्ट है कि शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहने में कुछ लोगों का निहित स्वार्थ अवश्य हो सकता है। प्रस्तुत इकाई में इसी बात का आकलन करने का प्रयास किया जाएगा, कि शंकराचार्य एवं बौद्ध दर्शन में क्या–क्या समानताएँ और विषमताएँ है और इन समानताओं एवं विषमताओं को देखते हुए उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध कहना कहाँ तक उचित है?

4.1. प्रस्तावना

शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त एवं बौद्ध दर्शन में विद्यमान समता को देखते हुए कुछ लोगों ने स्पष्ट शब्दों में शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त को बौद्ध दर्शन के 'महायान' से ग्रहण की गयी विचारधारा माना है। इन लोगों ने शंकराचार्य के 'मायावाद' को भी बौद्ध दर्शन के 'महायान' से ग्रहण करके विकसित की गयी विचारधारा माना है। बौद्ध दर्शन के 'महायान' में जिस प्रकार बाह्य जगत् में सब कुछ अनित्य एवं असत् माना गया है, उसी प्रकार शंकराचार्य ने भी अपने अद्वैत–वेदान्त में ब्रह्म को ही एकमात्र सत् माना है और जीव, जगत् तथा अन्य को मिथ्या माना है। शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहने वाले यह मानते हैं कि अद्वैत वेदान्त के अद्वैत तथा बौद्ध दर्शन के शून्यवाद में वर्णन शैली में चाहे जो अन्तर है, किन्तु मूल तत्व का स्वरूप दोनों में समान है। माध्यमिकों का अनिर्वचनीय शून्य तत्व अद्वैत वेदान्तियों के अद्वैत तत्व से पर्याप्त समरूपता रखता है। वास्तविकता यह है कि बौद्ध दर्शन के शून्यवाद और शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त में इतना अधिक साम्य है कि विद्वानों को भी चकित रह जाना पड़ता है। शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहे जाने के पक्ष एवं विपक्ष में तर्क देने वाले अनेक विचारक है और उनके द्वारा दिये गये तर्कों के आधार पर यह देखने का प्रयास किया जाएगा कि शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध कहा जाना कहाँ तक उचित है?

4.2. शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहने वाले मीमांसक शालिकनाथ का मत

सर्वप्रथम आठवीं शती के मीमांसक शालिकनाथ जो प्रभाकर के अनुयायी थे, अपनी 'प्रकरण–पन्जिका' में कहते हैं कि महायानिकपक्ष के प्रवेश में महायानियों का मोह है। प्रभाकर कहते थे कि विधि–निषेध और उसके अंग के अतिरिक्त कोई वस्तुवादी वेदभाग नहीं है। इस मत की आलोचना करते हुए शंकराचार्य ने यह सिद्ध किया कि वेद का तात्पर्य केवल ब्रह्मवाद है, न कि कर्मकाण्ड और उसका विधान करना।

4.3. शंकराचार्य के प्रच्छन्न बौद्ध के पक्ष में भेदाभेदवादी भास्कर का मत

नवीं शती में भेदाभेदवाद को मानने वाले भास्कर ने 'शारीरकभाष्य' के कुछ मतों का खण्डन करने के लिए ब्रह्मसूत्र पर एक भाष्य लिखा। उन्होंने कहा कि शंकर का मायावाद महायान बौद्ध दर्शन से लिया गया है। इसीलिए शंकर बौद्ध मतावलम्बी हैं। शंकराचार्य ने अपने पूर्ववर्ती भेदाभेदवादी भर्तृप्रपंच की आलोचना की थी और उनके विरोध में ब्रह्म के अभेद का प्रतिपादन किया था। भास्कर भर्तृप्रपंच की परम्परा में ब्रह्म के अतिरिक्त प्रकृति को भी मानते हैं। उन्होंने कहा कि शंकर ने श्रुति के अर्थ और ब्रह्मसूत्रकार वादरायण के अर्थ को पीछे रखकर, अपनी बुद्धि से मायावाद की कल्पना करके एक दूसरा ही दर्शनशास्त्र दिया है। इसी शती में मीमांसक पार्थसारथि मिश्र, जो कुमारिल भट्ट की मीमांसा के अनुयायी थे, अपनी 'शास्त्रदीपिका' में कहते हैं कि महायानिकवाद मायावाद से श्रेष्ठ है।

4.4. शंकराचार्य के प्रच्छन्न बौद्ध के पक्ष में नैयायिक और ईश्वरवादी उदयनाचार्य का मत

दसवीं शती के नैयायिक और ईश्वरवादी उदयनाचार्य ने कहा है कि – मायावादियों के ब्रह्म और शून्यवादियों के शून्य में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि दोनों स्वतः सिद्ध हैं।

4.5. शंकराचार्य के प्रच्छन्न बौद्ध के पक्ष में वैष्णव आचार्य रामानुज का मत

ग्यारहवीं शती के वैष्णव आचार्य रामानुज कहते हैं कि – अद्वैतवादी ज्ञानमात्र को ही परमार्थ मानते हैं और इसलिए वे लोक में उपहास के विषय हैं। अद्वैतवादी वेद–बाह्य और प्रच्छन्न बौद्ध हैं। अर्थात् वे वेदवाद के बहाने से प्रच्छन्न ढंग से बौद्ध दर्शन का प्रतिपादन करते हैं। कर्ममार्ग के द्वारा उनका मत निराकृत हो जाता है। इसी शती के दूसरे वैष्णव आचार्य यादव प्रकाश हैं, जो रामानुज के गुरू थे, उन्होंने अद्वैतवादी और बौद्धों को एक पंक्ति में बैठा दिया, क्योंकि जैसे बौद्ध वेदवचन को अनृत मानते हैं, वैसे ही अद्वैतवादी वेद को अनृत मानते हैं और दोनों बोद्धा (ज्ञाता), बुद्धि (वृत्ति–ज्ञान) और बुद्धि–फल (ज्ञेय = विषय) को अभिन्न मानते हैं। इसी शती के कृष्ण मिश्र ने अपने प्रबन्धचन्द्रोदय नाटक में दिखाया है कि प्रत्यक्षादि आदि प्रमाणों से असिद्ध और विरूद्ध अर्थ कहने वाले वेदान्ती यदि शास्त्रवेत्ता हैं, तो फिर बौद्धों ने क्या अपराध किया है? स्पष्ट है कि कृष्ण मिश्र रामानुज के दर्शन से प्रभावित हैं।

4.6. शंकराचार्य के प्रच्छन्न बुद्ध के पक्ष में पद्मपुराण का मत

ग्यारहवीं शती के अन्त में या बारहवीं शती के आदि में पद्मपुराण में स्पष्टतः कहा गया है कि मायावाद असत् शास्त्र है और शंकर प्रच्छन्न बौद्ध हैं। प्रच्छन्न बौद्ध पदावली का प्रयोग सबसे पहले रामानुज ने किया। इस पद्मपुराण के

कुछ अंशों का रचनाकाल रामानुज के बाद का है। पद्मपुराण शंकराचार्य के मायावाद को अवैदिक कहता है।

4.7. शंकराचार्य के प्रच्छन्न बौद्ध के पक्ष में मध्वाचार्य का मत

तेरहवीं शती के द्वैतवादी वैष्णव आचार्य मध्व ने उदयनाचार्य की ही तरह 'ब्रह्म' और 'शून्य' को एकार्थक बताया, क्योंकि दोनों ही निर्विशेष हैं।

4.8. शंकराचार्य के प्रच्छन्न बौद्ध के पक्ष में केशव काश्मीरी का मत

चौदहवीं शती में निम्बार्क के द्वैताद्वैत को मानने वाले केशव काश्मीरी ने शंकराचार्य को बौद्ध विज्ञानवादी समझा।

4.9. शंकराचार्य के प्रच्छन्न बौद्ध के पक्ष में वल्लभाचार्य का मत

पन्द्रहवीं शती में शुद्धाद्वैतवाद के संस्थापक वल्लभाचार्य ने शंकराचार्य की आलोचना करते हुए कहा कि वे माध्यमिक बौद्ध के अवतार हैं, प्रच्छन्न बौद्ध हैं और शुष्क तर्क के आधार पर श्रुतियोंका अनर्थ करते हैं।

4.10. शंकराचार्य के प्रच्छन्न बौद्ध के पक्ष में विज्ञानभिक्षु का मत

सोलहवीं शती के विज्ञानाभिक्षु ने भी पद्मपुराण के शब्दों को दुहराया और शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहा। उन्होंने ब्रह्मसूत्र पर अपना एक भाष्य भी लिखकर शंकर के मत का खण्डन किया। इन्होंने अद्वैतवादियों को प्रच्छन्न बौद्ध, नव्य मायावादी और वस्तुतः नास्तिक कहा।

अठ्ठारहवीं शती में चैतन्य मत के अनुयायी अचिन्त्यभेदाभेदवाद को मानने वाले विद्याभूषण ने अपने ब्रह्मसूत्रभाष्य में शंकराचार्य की आलोचना की और उनके दर्शन को प्रच्छन्न बौद्धमत बताया।

उन्नीसवीं शती में नैयायिक भीमाचार्य ने अपने न्याय–कोष में मायावादी वेदान्ती को नास्तिक तक कह डाला। इसी शती के पाश्चात्य विद्वान 'कोलब्रुक' ने भी लिखा है कि मायावाद वेदान्त–बाह्य है और बौद्ध दर्शन से उत्तरकालीन वेदान्त में प्रविष्ट हुआ है। याकोबी एवं सुखटंकर भी इसी मत को मानते हैं। पं0 विधुशेखर भट्टाचार्य और राहुल सांकृत्यायन का भी मत है कि शंकर प्रच्छन्न बौद्ध हैं।

बीसवीं शती में भारतीय दर्शन के इतिहास पर बृहदग्रन्थ लिखने वाले डॉ0 सुरेन्द्र नाथ दास गुप्त ने भी उपयुक्त आचार्यों की परम्परा में शंकर को प्रच्छन्न बौद्ध माना। इस शती में विदेशी तथा देशी अन्य विद्वानों ने भी यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि शंकराचार्य ने मायावाद को महायान दर्शन से लिया है।

इस प्रकार जिस समय सातवीं शती में शंकराचार्य अपने मायावाद या अद्वैतवाद को स्थापित कर रहे थे, लगभग उसी समय से उनका विरोध शुरू हुआ। उसी समय से लेकर आज तक अनेक विद्वान उनको प्रच्छन्न बौद्ध समझते रहे हैं ऐसे लोग मीमांसक, नैयायिक, वैष्णव आचार्य तथा भारतीय दर्शन के विशेषज्ञ हैं।

क्या शंकर को प्रच्छन्न बुद्ध कहना उचित है

परन्तु शंकराचार्य का ब्रह्म माध्यमिकों के शून्य से तथा विज्ञानवादियों के आलयविज्ञान से भिन्न है उनका कर्मसन्यास बौद्धों के कर्म–त्याग से भिन्न है तथा उनका मायावाद बौद्धों के मायावाद से भिन्न है। किन्तु, उन्हीं सिद्धान्तों को लेकर लोगों ने उनको प्रच्छन्न बौद्ध कहा है। डॉ0 गंगा नाथ झा इसीलिए कहते हैं कि शंकराचार्य को बहुत से लोगों ने समझा नहीं है। इस बात को शंकराचार्य स्वयं जानते थे। इसीलिए उन्होंने 'बृहदारण्यक उपनिषद्भाष्य' में स्पष्ट कर दिया है कि ब्रह्म शून्य नहीं हो सकता है। पुनः उन्होंने बौद्धों के सर्वास्तिवाद, विज्ञानवाद और शून्यवाद तीनों प्रमुख मतों की आलोचना की है। इससे स्पष्ट है कि वे बौद्धों के विरोधी और श्रुतिसम्मत ज्ञानमार्ग तथा अद्वैतवाद के समर्थक हैं। शंकराचार्य के अनुयायियों ने भी अपने मत को बौद्ध दर्शन के मतों से भिन्न करके रखा है और दिखाया है कि शंकर प्रच्छन्न बौद्ध नहीं हैं।

4.11. शंकराचार्य के प्रच्छन्न बौद्ध के विपक्ष में पद्मपाद का मत

सर्वप्रथम आठवीं शती में पदमपाद जो शंकराचार्य से साक्षात् शिष्य थे, अपने मत को महायान मत से भिन्न करते हैं और कहते हैं कि महायान (विज्ञानवाद) में नील, पीत आदि परस्पर व्यावृत्त होकर प्रतीत होते हैं, किन्तु अपरोक्षता (ज्ञान) में ऐसी नहीं है। महायान में विषय ज्ञानाका है, किन्तु वेदान्त में ज्ञान विषयकार होता है। वेदान्त में ग्राहक (ज्ञाता) अहंकार एकरूप और स्थायी है। अतः वह महायानिक पक्ष का समर्थन नहीं करता है। इस कारण कि वेदान्त भी अहंकार के अर्थक्रियाकारी होने के कारण 'नील' को स्वगत अपरोक्ष मानता है, उसको महायानिक पक्ष (विज्ञानवाद) नहीं कहा जा सकता है। तात्पर्य यह है कि वेदान्त और विज्ञानवाद दोनों ही अहंकार को अर्थक्रियाकारी मानते हैं और दोनों कहते हैं कि 'नील' अहंकार के अन्दर है। किन्तु, वेदान्त प्रमार्तृ–चैतन्य, प्रमाण–चैतन्य और विषय–चैतन्य इस भेद को मानता है और विज्ञानवाद केवल प्रमार्तृ–चैतन्य और प्रमाण–चैतन्य इस भेद को मानता है। इसके अतिरिक्त वेदान्त इन तीनों के आधार स्वरूप आत्मा को नित्य वस्तु मानता है और विज्ञानवाद उसे नहीं मानता है।

4.12. नवीं शती, में वाचस्पति मिश्र – ने विज्ञानवाद और वेदान्त का अन्तर बताते हुए कहा है कि वेदान्त नीलादि आकार ज्ञान को नहीं सिद्ध करता है, प्रत्युत इनसे अनिर्वचनीयत का सिद्ध करता है। अतः वेदान्त और विज्ञानवाद में अन्तर हैं। वास्तव में वेदान्त जगत् का अपलाप नहीं करता है, वह जगत् के अस्तित्व को अनिर्वचनीय कहता है।

4.13. दसवीं शती में सर्वज्ञात्म मुनि – ने बड़े शक्तिशाली शब्दों में पूर्वपक्ष को रखा कि वेदान्ती बौद्ध हैं, फिर पूर्वपक्ष का उन्होंने खण्डन किया। बौद्ध असत्मार्यवाद, क्षणिकवाद और असदवाद (जगत् असत् है) मानते हैं। इसके विपरीत वेदान्ती सत् कार्यवाद, नित्यतावाद और अनिर्वचनीयतावाद को मानते हैं।

4.14. ग्यारहवी शती में आनन्दबोध – ने न्यायमकरन्द में कहा कि नीलादि आकार वाली वृत्ति है, ऐसा हम नहीं मानते। अतः हमारे मत में महायनिक पक्ष का प्रवेश नहीं है। वे मानते हैं कि जगत् अनादि अविद्या का खेल है और अलीक निर्भास समान आकार वाला है। उनका कहना है कि ब्रह्मानुष के पहले जगत् सत् है, असत् नहीं है, क्योंकि जगत् की जो सत्ता है, वहीं ब्रह्म है।

4.15. बारहवीं शती में श्री हर्ष – ने 'खण्डनखण्डखाद्य' माध्यमिक और वेदान्त के भेद को बड़ी सूक्ष्मता से स्पष्ट किया है। माध्यमिक सर्वमिथ्यात्व को मानते हैं और वेदान्ती सर्व को अनन्य कहा हैं। तात्पर्य यह है कि माध्यमिक मत में जगत् शून्य है और वेदान्त में वह ब्रह्म से अनन्य है।

4.16. तेरहवीं शती में प्रकाशात्मा – ने अपने 'विवरण' में कहा है कि जो लोग विज्ञानवाद और को समान कहते है, उनकी वाणी दुर्जन रमणीय है।

4.17. चौदहवीं शती में विद्यारण्य ने विज्ञानवाद और वेदान्त में भेद किया है। वे कहते हैं कि विज्ञानवादियों का विज्ञान चाहे वह विज्ञप्तिमात्रता हो या आलयविज्ञान, क्षणिक है और वेदान्तियों की आत्मा नित्य है।

4.18. सोलहवीं शती में अप्पयदीक्षित – ने भी अपने 'कल्पतरू परिमल' में कहा कि विज्ञानवादी जगत् को अनिर्वचनीय नहीं मानते हैं। इसी शती के भक्त दार्शनिक नाभादास ने बड़े अच्छे शब्दों में कहा है कि शंकर ईश्वरवादी है और उन्होंने कुतर्की जैन और बौद्धों का खण्डन किया है। वास्तविकता यह है कि नाभादास ने शंकर के वेदान्त को जितना समझा था, उतना उन लोगों ने नहीं समझा है, जो उन्हें प्रच्छन्न बौद्ध, नास्तिक, सदाचार का खण्डन करने वाला, बौद्ध पंक्ति में बैठने वाला आदि कहते हैं। नाभादास रामानुज आदि वैष्णवों के भी प्रशंसक हैं और उनके भक्ति मार्ग के समर्थक हैं, किन्तु उनके वैष्णव मत के समर्थन का यह अर्थ नहीं है कि अद्वैतवादियों को गाली दीजिए।

4.19. उन्नीसवीं शती में निश्चलदास – ने भी अपने 'विचारसागर' में दिखाया है कि शंकर बौद्ध मतावलम्बी नहीं है, प्रत्युत श्रुतिमार्ग के एकमात्र संरक्षक हैं। उनका कत है कि शंकर के अतिरिक्त जिन लोगों ने 'श्रुति' एवं 'ब्रह्मसूत्र' का अर्थ किया है, उनका अर्थ असंगत और गलत है। एकमात्र शंकर के ही व्याख्या ठीक हैं। इसी शती में गफ, डायसन आदि विद्वानों ने दिखाया है कि शंकर का मायावाद वेदोपनिषद का ही विकास है और यह बौद्ध धर्म से उधार नहीं लिया गया है। अन्ततः बीसवीं शती में प्रो0 एम0 हिरियण्य, डॉ0 श्री कृष्णपाद, बेल्वल्कर आदि विद्वानों ने दिखाया है कि शंकर प्रच्छन्न बौद्ध नहीं हैं।

4.20. शंकराचार्य प्रच्छन्न बौद्ध है या नहीं? – इस प्रकार से भारतीय दर्शन में शंकराचार्य के युग से लेकर आज तक यह प्रश्न विवेचित हो रहा है कि शंकराचार्य प्रच्छन्न बौद्ध हैं या नहीं। इस प्रसंग में दो परम्पराएँ साथ–साथ चल रही हैं। एक कहती है कि शंकर प्रच्छन्न बौद्ध हैं और दूसरी कहती है, वे प्रच्छन्न बौद्ध नहीं हैं, प्रव्युत् बौद्ध मत के प्रचण्ड खण्डन–कर्ता हैं। इन दो परम्पराओं के अतिरिक्त एक तीसरी परम्परा भी है। यह परम्परा कहती है कि बौद्ध मत स्वयं वेदों एवं उपनिषदों से निकलता है। तमिल गुरू मणिमेंखलै, जो नागार्जुन एवं बसुबन्धु के पहले का है अर्थात दूसरी शती है, कहता है कि आरम्भिक बौद्ध व्यास जैमिनि और कृतकोटि के ज्ञानमार्ग तथा तर्कशास्त्र को मानते थे। छठी या सातवीं शती के मीमांसक कुमारिल भट्ट का कहना है कि विज्ञानवाद, क्षणभंगवाद तथा नैरात्म्यवाद भी उपनिषदों से निकले हैं और वे विषयों के प्रति आत्यन्तिक राग की निवृत्ति करने के कारण प्रामाणिक हैं। सातवीं शती में मत्तविलास प्रहसन्न में कहा गया है कि बुद्ध ने वेदान्त और महाभारत से लेक पिटक (त्रिपिटक) या कोष (अभिधिम्मकोष) बनाया। दसवीं शती के भगवत्पुराण आदि में बुद्ध को विष्णु का अवतार माना गया है। यह अवतार मनुष्यों की बुद्धि को विमोहित करने के लिए हुआ था। विमोहित करने का तात्पर्य उन्हें सन्देहवादी और मननशील बनाना है। बुद्ध को विष्णु का

अवतार मान लेने का तात्पर्य यह है कि बौद्ध धर्म एवं दर्शन उसी तने की एक शाखा है, जिसकी दूसरी शाखा हिन्दू धर्म एवं दर्शन है। मध्ययुग के सभी सन्तों एवं भक्तो ने भागवत्पुराण की इस बात को माना है। उन्नीसवीं शती के निश्चलदास ने विद्यासागर में कहा है कि बुद्ध भगवान विप्रलिप्सा के अवतार हैं। विप्रलिप्सा का अर्थ वे स्वस्थ सन्देहवाद से लेते हैं। उन्नीसवीं एवं बीसवीं शती में बहुत से ऐसे विद्वान हुए जिनकी मान्यता है कि बुद्ध का दर्शन वेदों एवं उपनिषदों से निकला है। डॉ ओल्डेनवर्ग दासगुप्त, शेरवात्स्की, राधाकृष्णन आदि इनमें प्रमुख हैं।

आज यह सिद्ध हो चुका है कि महायान बौद्ध व उपनिषद्, महाभारत आदि का स्पष्ट प्रभाव है। गौतम बुद्ध भी अपने समय की विचारधारा से सर्वथा अप्रभावित न थे। अन्त में जो यह तीसरी परम्परा दी गयी है, उसकी सत्यता निर्विवाद है।

4.21. बौद्धों के कुछ सिद्धांत को मान्यता – आजकल एक चौथी परम्परा भी चल पड़ी है। यह कहती है कि जैसे बौद्ध धर्म उपनिषदादि से निकला है, वैसे ही अद्वैत वेदान्त बौद्ध धर्म से चाहे न निकला हो, किन्तु उसने **बौद्धो के कुछ सिद्धान्तों को अपनाया** है। कम से कम चतुष्कोटिक न्याय तो वेदान्तियों ने बौद्धो से ही लिया है। इन चार परम्पराओं में संभवतः चौथी परम्परा में ही सत्यांश सर्वाधिक है। इसके अनुसार यद्यपि वेदान्ती और बौद्धों ने एक ही भाषा में, एक ही शब्दावली में और कहीं–कहीं एक ही तर्क से अपने–अपने विषयों का प्रतिपादन किया है, तथापि उनके तत्वदर्शन और ज्ञानमीमांसा में महान अन्तर है। किन्तु, आजकल आलोचकगण यह कहने लगे हैं कि असंग और बसुबन्धु भले ही मायावाद की आलोचना किये हों और शंकराचार्य और उनके अनुयायी भले ही आलयविज्ञान या विज्ञप्तिमात्रता की आलोचना किये हों, किन्तु आत्मा और आलयविज्ञान या विज्ञप्तिमात्रता एकार्थक हैं। वास्तव में यह बहुत बड़ा अनर्गल है और ऐसा कहने वाले न तो वेदान्त को समझते हैं और न विज्ञानवाद को। आचार्य नरेन्द्रदेव और विधुशेखर भट्टाचार्य जैसे बौद्ध दर्शन के मनीषियों ने माना है कि विज्ञप्तिमात्रता या आलयविज्ञान नित्य नहीं है। अतः उसको नित्य दिखाना अपना अज्ञान ही प्रदर्शित करना है। पुनश्च यदि दोनों को एक मान भी लिया जाय, तो विज्ञानवाद और वेदान्त में महान अन्तर है। विज्ञानवाद आत्मख्यातिवाद को मानता है, तो वेदान्त अनिर्वचनीयख्यातिवाद को। विज्ञानवाद में ज्ञानसाख्य है, तो वेदान्त में वह तादात्म्य है। विज्ञानवाद में विषय ज्ञानकार है, तो वेदान्त में ज्ञान वस्तुतंत्र है। विज्ञानवाद अपोहवाद को मानता है, तो वेदान्त महासामान्यवाद को विज्ञानवाद आलयविज्ञान को स्वसंवेद्य कहता है, तो वेदान्त आत्मा को स्वप्रकाश। स्वसंवेद्य का तात्पर्य है कि आलयविज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय दोनों है, किन्तु स्वयं प्रकाश का अर्थ है कि आत्मा अविषय है और मात्रज्ञान है विज्ञानवाद परतः प्रामाण्य को मानता है, तो वेदान्त स्वतः प्रामाण्य को। विज्ञानवाद अर्थक्रियाकारित्व को प्रामाणिकता की कसौटी मानता है, तो वेदान्त अबाध या अव्यभिचार को। ऐसे महान अन्तुरों के होतु हुए भी दोनों को एक कहना दार्शनिक दृष्टि से आँख मूँद लेना है।

पुनश्च ब्रह्म को शून्य कहना तो सर्वथा बकवास है, क्योंकि ब्रह्म एक और अद्वितीय है, पूर्ण है और आत्मा से अभिन्न है, वह सत् और असत् इन दोनों कोटियों के मूल में है, इसलिए इसे अद्वैत कहा जाता है। इसके विपरीत शून्य को अद्वय कहा जाता है, क्योंकि शून्य सत् और असत् दोनों से परे है। इस प्रकार कहीं–कहीं अद्वैत और अद्वय, इन दोनों पदों का गलती से या असावधानी से एक अर्थ में प्रयोग मिलता है, तथापि पारिभाषिक दृष्टि से इन दोनों में महान अन्तर है। अद्वयवाद विभज्यवाद है और अद्वैतवाद सर्वात्मवाद है, जो कहता है कि आत्मा प्रत्येक विषय की प्रागपेक्षा है। इस प्रकार यद्यपि अद्वैत–वेदान्त और बौद्ध शून्यवाद

दोनों में चतुष्कोटिक न्याय के रूप में द्वन्द्व–न्याय का प्रयोग हुआ है तथापि दोनों के ही प्रयोग और अर्थ भिन्न हैं। आचार्य गौड़पा आगमशास्त्र में इस भेद या अन्तर का स्पष्टीकरण करते हुए कहते है कि अद्वैतवाद बुद्ध वचन नहीं है। 'नैतद् बुद्धेन भाषितम्' अर्थात् सभी विषयों में आत्मा सर्वान्तर रूप से या अन्तर्यामी रूप से विद्यमान है, ऐसा बुद्ध ने नहीं कहा।

बौद्ध दर्शन में 'शून्य' सभी कोटियों से परे है और अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म भी सभी कोटियों से परे है, किन्तु इन निषेधात्मक साम्य के आधार पर शून्य और ब्रह्म को एक और अभिन्न कहना, अवैध अनुमान करना है। पाश्चात्य तर्कशास्त्र की दृष्टि से इस अनुमान में दो निषेधात्मक तर्कवाक्यों का दोष है। अतः ब्रह्म शून्य नहीं है कम से कम शंकराचार्य ने ब्रह्म को शून्य से सतर्कता पूर्वक भिन्न किया है और वे शून्यवाद का एक प्रसंगया दूषितवाद कहते हैं। 'शून्य' और 'अशून्य' से जो भिन्न है और जिसके बिना इन दोनों की अवधारणा नहीं हो सकती, वह आत्मा है। इसी आत्मा की दूसरी संज्ञा ब्रह्म है। इसलिए शंकराचार्य ब्रह्मत्मेंक्यवादी माने जाते है।

4.22. निष्कर्ष

अतः हम निष्कर्ष के रूप में कह सकते हैं कि शंकर प्रच्छन्न बौद्ध नहीं है। उनका अद्वैतवाद बौद्ध विज्ञानवाद तथा शून्यवाद से सर्वथा भिन्न है। किन्तु, उन्होंने बौद्धों द्वारा विकसित चतुष्कोटिक न्याय–प्रणाली का उपयोग किया है। विधुशेखर भट्टाचार्य का कहना है कि यह न्याय–प्रणाली बुद्ध–पूर्व के भौतिकवादियों के द्वारा सबसे पहले प्रवर्तित हुई। प्रो0 संगम लाल पाण्डेय का कहना है कि "'चतुष्कोटिक–न्याय–प्रणाली' वेदों से ही निकली है, उदाहरण के लिए 'नासदीयसूक्त' में ही यह कहा गया है कि पहले न सत् था न असत्। इस तरह जिस न्याय–प्रणाली को बौद्ध ने विकसित किया, वह उनकी बपौती नहीं है। उसके उभय में वेदों, उपनिषदों और वेदान्तियों ने भी हाथ बटाया है। इससे यदि शंकराचार्य इस प्रणाली का उपयोग करते हैं, तो उन्हें इस आधार पर प्रच्छन्न बौद्ध नहीं कहा जा सकता है।"

प्रश्नावली

लघु उत्तरीय प्रश्न–

1. शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध कहने का अर्थ क्या है?
2. शंकराचार्य के विषय में रामानुज का मत क्या है?
3. शंकराचार्य के विषय में मध्वाचार्य का मत किस प्रकार सुसंगत है?
4. प्रच्छन्न बौद्ध होने का आधार क्या है?
5. पद्म पुराण के मत को स्पष्ट करें।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न–

1. शंकराचार्य की प्रमुख आलोचना प्रच्छन्न बौद्ध है स्पष्ट करें।
2. शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध सिद्ध करने की युक्तियों की सुसंगतता की व्याख्या करें।

****